DURGA SAH MUNICIPAL LIBRARY
NAINI TAL
दुर्गा साह म्युनिसिपल पुस्तकालय
नैनीताल
Class No. 891.38
Book No. R 229 K
Reg No. 2790
D. L. SAH

कुछ पैसे

(कहानी संग्रह)

लेखक :

श्री रामसरन शर्मा

★

प्रकाशक :

राजहंस प्रकाशन, दिल्ली ।

प्रकाशक :
राजहंस प्रकाशन
सदर बाजार
दिल्ली. ६.

Durga Sah Municipal Library,
Naini Tal.
दुर्गासाह म्युनिसिपल लाइब्रेरी
नैनीताल
Class No, (विभाग) .....
Book No, (पुस्तक) .....
Received On. .....

प्रथम संस्करण १९५३

मूल्य—एक रुपया चार आना

2790

मुद्रक—राजहंस प्रस
सदर बाजार
दिल्ली. ६.

कुछ पैसे

कहानी संग्रह

सूची

	विषय	पृष्ठ
१.	पड़ोसिन	५
२.	हताहत सूची	१०
३.	तारों की छाया में	१५
४.	पतन	१६
५.	मैत्री	२४
६.	कुछ पैसे	२७
७.	पाप का पथ	३१
८.	भड़-भूंजन	३६
९.	वह तुझे भूल गये	४०
१०.	चारे की खोज में	४४
११.	गुलशन	४८
१२.	किनारी	५३
१३.	वह सुनहरा प्रभात	५८
१४.	तांबे के वे टुकड़े	६४
१५.	मेंह की बूंदें	६८
१६.	अब रहा कहां अधिकार ? ...	७५
१७.	टूटा हुआ मोर ...	७६
१८.	आत्म-हत्या	८१
१९.	सुलताना ने कहा था ...	८५
२०	रेखा का पाप	९१

पड़ोसिन

मैं बी० ए० कर चुका था,—वकालत की तैयारी थी।

होस्टल में जगह न मिल सकी। कालिज में लॉ पढ़ने वालों के लिये होस्टल में जगह कम थी। सो, शहर के एक कोने में एक छोटा-सा कमरा लेकर रहने लगा। कमरा दो मंजिले पर था, साथ में छोटा-सा बाथ रूम और छोटी-सी रसोई।

नीचे पान की दूकान।

पड़ोस में एक घर था,—पुराना, टूटा-सा। मैली दीवालें, जाल गेरू से पुते किवाड़। मेरे और पड़ोस के इस घर के बीच बस छोटी-सी *एक दीवाल भर थी।*

पर, उन दिनों मैं इन सब बातों पर ध्यान नहीं देता था। मज़े से दिन भर कमरे में पड़े-पड़े किताबें पढ़ता, सोना या दोस्तों के आने पर गप्पें हाँकना। और शाम को घंटा भर लॉ क्लास अटेण्ड करना। बस, यही दिन भर का कार्य-क्रम था।

अचानक एक दिन मालूम हुआ कि पड़ोस के घर में कोई नया किरायेदार आ गया है।

कैसे मालूम हुआ? खाना खाकर लेटा ही था कि—खट, खट, खट'—सिंगर मशीन की आवाज़ पड़ोस के मकान से आने लगी।

तब मैं चौंका।

इतने दिन से मैं अपने इस निस्तब्ध साम्राज्य का स्वामी था।

अब आज अचानक यह·····!

"ऊँह।" मैंने करवट लेकर सोने की चेष्टा की।

पर—'खट खट, खट'···

मैं झुँझला उठा।

पड़े-पड़े सोचने लगा अच्छा जी, यह कौन हो सकता है ?

कोई खबीस बुड्ढा दर्ज़ी या फिर कोई अधेड़ कई बच्चों की माँ !

जान पड़ता है, सब कपड़े आज ही सिये जायेंगे।

दोपहर बीत गई। पर मैं न सो सका। आख़िर क्लास का वक्त हो गया।

बाहर निकला और एक जलती निगाह पड़ोस के उस मकान पर डाली। पर व्यर्थ ! दर्वाज़ा बिलकुल बन्द था।

क्लास से लौटा तो शाम हो चुकी थी। तब सुना, मशीन बंद है।

× × ×

तब से रोज़ का यही हाल रहा।

दिन भर मशीन की 'खट' खट' से तबियत परेशान रहती।

पर मैंने कभी भी दर्वाज़े को खुला नहीं पाया।

कभी-कभी यों ही कुछ आवाज़-सी—नहीं तो फिर वही 'खट' खट खट, !

मानो मशीन ही उस घर की किरायेदार थी।

ऐसा कौन यह किरायेदार है जो कभी बाहर नहीं निकलता !

बाज़ार का सामान, तरकारी वगैरह—कौन, कब लाता होगा ?

मेरे हृदय में रह रह कर अपने इस अजीब पड़ोसी को देखने की हुलक-सी उठने लगी।

आखिर एक रोज़ न रहा गया।

बीच की दीवार के सहारे कुर्सी रख कर उस पर खड़े होकर झाँका।

दीखी, एक मैली-सी सफेद साड़ी की एक झलक !

'धम' से मैं कुर्सी से उतर गया।

ओह ! मेरी एक पड़ोसिन है ! पड़ोसी नहीं—पड़ोसिन !

अब तो मानो मैं प्रतिदिन मशीन की 'खट खट' का इन्तज़ार करने लगा।

वही मानो उसके और मेरे बीच मित्रता का एक सूत्र थी···ओह!

अच्छा जी, वह कैसी होगी? कितनी उम्र की? कैसी शकल सूरत की? उसके आदमी है या नहीं? लड़के, बच्चे? विधवा, कुँवारी?

बीसों सवाल मेरे सिर में चक्कर लगाया करते।

रात को सोचते-सोचते कभी पड़ोसिन जवान, सुन्दर-सी, सोलह वर्ष की···कभी काली, बुढ़िया···कभी कुछ!

धीरे-धीरे निश्चय हो गया कि वह विधवा है। आदमी तो कोई आता नहीं उसके पास।

यदि वह जवान हो तो—तो? हृदय मानो उछलने लगता।

और फिर वही मशीन की 'खट, खट, खट''''

इसी उधेड़बुन में कितने दिन बीत गए।

सहसा एक दिन मैं चौंका। मशीन बन्द हो गई थी!

ओह! दोपहर कितनी सूनी मालूम पड़ती थी···

मशीन क्यों बन्द है? मैं उठ कर बैठ गया चारपाई पर। क्या पड़ोसिन मकान छोड़ गई? या वह बीमार···?

दिल में बेचैनी-सी होने लगी। तब उस दिन की तरह फिर धीरे से कुर्सी पर चढ़ कर झाँका।

बिल्कुल सन्नाटा!

कि सहसा धीरे से कुछ आहट हुई।

मैंने पैर दीवार के पार रखा।

माथे पर पसीना आ गया। हृदय की धड़कनाहट साफ़ सुन पड़ने लगी। मकान में शायद वही अकेली औरत···

ताजीरात हिन्द की दफ़ायें दिमाग़ में घूम गईं।

मैं रुक गया।

पर कहीं वह बीमार हो तो? या कहीं वह—?

और मैं दूसरी तरफ छत पर उतर ही पड़ा।

धीरे से काँपते हुए बढ़ा। देखा, एक टूटी-सी चारपाई पर मैली-सी चादर ओढ़े वह लेटी थी—पड़ी थी।

कमरे में अलगनी पर पुराने कपड़े, एक टीन का ट्रंक और चारों ओर नए कपड़ों की धज्जियाँ, बीच में सिंगर की मशीन और एक कैंची!

मैं अचकचा कर खड़ा रह गया। इतनी दरिद्रता!

चादर हिली और पड़ोसिन ने आँखें खोल कर मुझे देखा।

"ओह!" कह कर वह बैठने लगी।

मैं सन्नाटे में आ गया!

तब देखा,—पीला-सा सुन्दर मुख—संसार भर का नैराश्य और वेदना लिए हुए!

और वे आँखें—जब उसने मेरी ओर देखा—ओह! मैंने अनेक सुन्दरियों की आँखें देखी हैं—पर उन आँखों का मुक़ाबिला तो हो ही नहीं सकता।

बड़ी, बड़ी, कजरारी, सहमी हुई-सी वे आँखें थीं।

"नहीं, नहीं," मैंने थरथराई ज़बान से कहा, "आपकी तबियत···"

"हाँ," उसने निगाह नीची करके कहा, "कुछ बुखार-सा..."

मैं देख रहा था। इतना रूप, इस गन्दे कमरे में, दुनिया से छिपा हुआ क्यों···?

× × ×

पड़ोसिन कई दिन बीमार रही।

कहना न होगा कि, मेरा कालिज जाना इन कई दिनों तक न हो सका।

पर उसे मैं न समझ पाया। वह मानो चुपचाप पत्थर की मूर्ति थी, दुनियां से डरी-सी। कुछ समझ में नहीं आता था।

और कई दिन, फिर सप्ताह निकल गये।

आखिर मैंने दिल कड़ा करके पूछा ही, "आप यहाँ अकेली क्यों हैं ?"

पड़ोसिन की बड़ी-बड़ी आँखों ने एक बार मुझे देखा, फिर झुक गईं !

टप ! टप ! दो आँसू गिरे !

मेरे हृदय पर मानो घनकी चोटें पड़ रही हों।

और फिर उसने बतलाई वही पुरानी बात···बाप की मौत, माँ का पक्की सड़क छोड़ कर जीवन की पगडंडियों पर उतर जाना···फिर अपनी लड़की को भी···फिर पवित्रता और पाप का युद्ध···!

और पवित्रता का निर्वासन; एक सिंगर मशीन से जीवन भर का अज्ञात वास !

और हृदय पड़ोसिन के लिए श्रद्धा से भर आया।

सब सुनाकर बोली, "अब यहाँ से चली जाऊँगी।"

मेरे दिल में 'धक' से हो गया। पूछा—क्यों ?"

"आपको मेरे यहाँ रहने से तकलीफ़ होती होगी, और मेरी माँ···?"

मैंने उसका हाथ छूकर मानो बेहोशी में कहा—"मुझे—तुम्हारे—रहने से...।"

× × ×

अब मैं वकालत करता हूं। पड़ोसिन अब मेरे ही घर में रहती है।

सिंगर मशीन—वही—आलमारी में अब भी रक्खी है। उसे देख जब तब वह कह देती है—"इसी ने···"

तब मैं वाक्य पूरा कर देता हूँ—"तुम्हारी तपस्या का अन्त कर दिया !"

———

हताहत-सूची

टाउन-हाल से बाहर टँगी थी नई हताहत-सूची—केजुएल्टी लिस्ट।

बादामी काग़ज़ों के तख्ते के तख्ते, छोटे-छोटे अक्षरों से भरे, नामों से काले हो रहे थे।

सूची को देख रही थी एक छोटी-सी भीड़! एक मन से—चुपचाप। युद्ध की यह एक साधारण-सी घटना थी। बहुधा ही तो ऐसी सूचियाँ लगा करती थीं। समाचार-पत्रों में भी छपती थीं।

यों ही कौतूहल-वश जा खड़ा हुआ। सम्भवतः मैं ही एक दर्शक था वहाँ। बाकी तो·····ख़ैर, कहीं दूर पर होने वाली लड़ाई की, यह मानों गूँज थी जो हमें भी दहलाने आई थी।

इन्हीं सूचियों के कारण तो युद्ध केवल एक पढ़ने और बात करने का विषय न रह कर हम से अत्यन्त निकट की वस्तु बन जाता था।

गोलों की गरज, मशीन गनों की तड़तड़, घायलों की आर्त्तनाद—सब ही तो हम इन सूचियों में सुन सकते थे।

मेरे पास खड़ी एक वृद्धा ने सहसा झुक कर सूची को देखा—मानों पहिली बार पढ़कर विश्वास न आया हो। फिर, एक बार खोये हुए प्रकार से, माथे पर हाथ ले जाकर गिरने लगी।

मेरे सम्हालते-सम्हालते भी वह लड़खड़ा कर गिर ही पड़ी।

हृदय की चोट मस्तिक पर भी लगती है।

एकदम पीला मुख, दुबली इतनी कि मानों हवा से उड़ जायगी।

इसका पुत्र ही तो हो सकता था उस सूची में। पति·····पति तो शायद न भी हो।

कौन जाने एक ही पुत्र हो। और, यदि अधिक भी हों तो····· तो, हमें अपने हाथ की सब ही उँगलियाँ तो प्यारी होती हैं।

न जाने केवल घायल ही हुआ हो, या·····

मैं वृद्धा को उठाने की चेष्टा कर ही रहा था कि एक महीन आवाज़ ने कहा—'ओह! माँ जी!'

घूम कर देखा—सफेद चूने जैसा मुँह, जिसमें केवल दो आँखें चमक रही थीं, लाल आँसुओं से भरी।

मैं सच ही थरथरा उठा। वह युवती, वेदना की मूर्ति जान पड़ती थी। यह वृद्धा के बेटे की बहू थी।

अब जीवन भर यह दोनों स्त्रियाँ क्या करेंगी?

यदि कहीं पुत्र भी हुआ, तो·····

जी में आया एक बार कैसर विलियम से मिल सकें तो पूछूँ कि आपको यह बड़ा पाप करते कुछ न सूझा था? युद्ध में मरने वालों की ही नहीं, उनके नाम पर जीवन भर मरने वालों की हत्या के ज़िम्मेदार भी तो आप ही हैं।

मुझे भी तो हताहत-सूची देखनी थी।

पिता जी युद्ध में गये थे।

खूब याद था, वह दिन जब सहसा ही उनका पत्र और तार दोनों मिले थे। पत्र बम्बई से चला था, तार करांची से।

वह चुपचाप ही चले गये थे युद्ध पर। इतना साहस न था कि घर पर कह सकते·····

फिर, उस दिन से तो रोज़ ही डाकिये का इन्तजार रहता था। माता जी तो कुछ दिन चिट्ठी न आये तब भी रोतीं और आने पर तो उनके आँसू रुकते ही न थे।

कैसे भयानक दिन थे!

2790

किसी समय किसी घर में रोना-पीटना पड़ जाता था।

कई दिन पहिले उस घर का रोटी कमाने वाला, फ्रान्स में, अफ्रीका में, अरब में—कहीं भी युद्ध में काम आ चुका था।

हमारे पड़ोस में रहते थे एक डाक्टर। ठीक जिस दिन उनकी स्त्री प्रसव-वेदना से तड़प रही थी, उन्हें युद्ध पर जाना था।

वे गये।

वे आये थे पूरे सात वर्ष बाद। एकदम बूढ़े से। हाथ-पैर काँपते थे उनके····

उनकी आमदनी कम हो ही जाती। याद नहीं आता शायद कुछ पेन्शन भी हो गई थी कि नहीं।

किन्तु उनका नाम तो किसी सूची में भी न निकला था।

हाँ, तो उन हताहतों की सूची में सबसे दुखदायक होता था वह कालम जहाँ लिखा होता था—लापता।

न घर वाले रो सकते थे, न जी को सन्तोष कर सकते थे। इससे होने वाला व्यक्ति मारा भी गया हो सकता था, शत्रु का बन्दी भी हो सकता था। यानी, जीवित भी हो सकता था और मुर्दा भी।

मैं देख रहा था—कितने सहमे से आकर लोग उस लिस्ट को पढ़ना प्रारम्भ करते थे। धीरे से शुरू करके जल्दी-जल्दी निगाह घुमा लेना चाहते थे।

यदि, पहिली बार में नाम न दिखा तो फिर एक लम्बी-सी साँस, शान्ति की, लेकर फिर से लिस्ट देखी जाती थी।

जिनको नाम न मिलता था, वे तो कन्धे चौड़े करके, सर ऊंचा करके चल देते थे। किन्तु आँखों का वह भीत-जन्तु का-सा भय न हट पाता था।

और, जिन्हें नाम मिल जाता था—वह···ऐसी होती थी वह केजुएल्टी लिस्ट्स जिन्हें देखने को जी भी न चाहता था, और जिन्हें देखे बिना काम भी न चलता था।

मैं तब एक बात बहुधा सोचा करता था। बच्चा ही तो था, फिर पिता जी भी युद्ध में गए हुए थे। बेवकूफी की बातें तो सूझतीं ही—क्यों लड़ते थे ये शत्रु ? कुछ सर फिर गया था, या फिर जीतने का निश्चय ही कर चुके थे।

यदि, मैं तब सोचता था, दुनिया के सारे देश मिलकर जो भी देश लड़ाई करे उसके विरुद्ध हो जायँ—सब के सब, सारी दुनिया के—तो फिर तो कोई भी लड़ाई करने का साहस न कर सकेगा।

आखिर सारी दुनिया से लड़ ही कौन सकता था ?

और, अगर किसी ने ऐसी बेवकूफी की भी तो उसका जो हाल होगा उसके बाद तो कोई भी कान तक न हिलायेगा।

यह तब सोचा करता था, जब पॉलिटिक्स नहीं पढ़ी थी, दुनिया को न जाना था।

उसके बाद''''उसके बाद एक आदमी ने ऐसा करना चाहा भी, पर दुनिया ने उसे पागल बताकर छोड़ दिया।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति सत्य पर नहीं, असत्य पर, धोखाधड़ी पर, निर्भर है। बड़े राजनीतिज्ञों के सत्य और कर्मनिष्ठता के व्याख्यानों के पीछे खूँखवार भेड़ियों की-सी रक्त-पिपासा, लोमड़ी की-सी चालाकी छिपी रहती है।

दुर्बल को, पड़ोसी को, क्योंकर खाया जाय ? यही तो राजनीति की भित्ति है।

और संसार को चलाने वाले राजनीतिज्ञ ही तो हैं। वे क्योंकर इस बेईमानी और लूट के विरुद्ध लड़ते ?

क्यों ? इसी स्वार्थपरता के कारण तो आज फिर लड़ाई हो रही है।

आज फिर दिन आ गए हैं केजुएल्टी लिस्ट्स के !
ओह !

आज सोचता हूँ कि यदि आप और मैं दुनिया चलायें—इन राजनीतिज्ञों को हटा के—तो उसे अधिक सचाई से चलायेंगे—चला सकेंगे।

पर, यह स्वप्न भी तो सम्भवत: यों ही बेकार साबित होगा।

तारों की छाया में

: १ :

लेखक ने देखा— घिरते से अन्धकार में गाँव के झोंपड़े, अस्पष्ट-से अस्तव्यस्त-से ।

काले आकाश में निकलते हुए तारे । अंधकार से झाँककर, अंधकार में देखने की चेष्टा करते से ।

रेतीली राह । घूमघुमाती-सी । और उस राह के दोनों ओर जर्जरित पशुओं के समान, थके-से पड़े, वे झोंपड़े ।

निविड़ सन्नाटे में सियारों की रोती आवाज़...और किसी झोंपड़े से आता हुआ शब्द ।

कल्पना जाग्रत हुई ।

लेखक ने देखा -- बराबर के झोंपड़े में, एक मन से चौके में बैठा हुआ एक कृशकाय किसान भोजन कर रहा है ।

भोजन ! पीतल की एक छोटी-सी थाली में दो मोटे-मोटे लिट्टू— जौ के—और...नमक । एक लोटा पानी ।

चाव से उसी प्रकार के लिट्टू को चबाते हुए— नंगे बालक ।

गृहलक्ष्मी के सर पर तार-तार धोती, हाथ-पैरों में बाइयाँ और मुख पर विषाद की गहरी छाया ।

अमिट-सी, अविचल-सी ।

गृहस्वामी—ताँबे का सा रंग, मुख पर रेखाएँ, नेत्रों में चिन्ता ।

चिन्ता ! किसान की चिर-सहचरी जो है ।

सहसा पत्नी ने कहा—बनिये का आदमी आया था।

'हूँ।'

फिर सन्नाटा।

लेखक के हृदय में ठेस लगी। तन्मय होकर वह लिखने लगा।

मुख पर तमतमाहट, आँखों में चमक।

हाँ, और वह लेख संसार के क्रान्तिकारी लेखों में माना गया।

तारे मुस्कराये। मनुष्य ने मनुष्य को समझा।

: २ :

आधी रात।

बड़ा सुन्दर-सा कमरा। रोशनी...हल्की, मानो अपने को बेकार समझकर बैठ रही हो।

और, उस पलंग पर बैठी—रूप की राशि, सौन्दर्य की खान,... नववधू।

उसने सहसा खिड़की में देखा।

तारे चौंक पड़े।

इतना रूप! वे एक मन से सुन्दरी की ओर देखने लगे।

अनमनी होकर उसने आँखें हटा लीं।

सहसा किवाड़ खुला—

और लज्जा से वह लाल हो गई। एक क्षण में पसीना-पसीना हो उठी...हृदय धड़-धड़ करने लगा।

फिर—

नारी ने देखा, सच ही वह अनुपम है, उसकी शक्ति अपार है, उसका रूप अनूप है, उसकी...वह सब कुछ है।

केवल एक मनुष्य का प्रेम पाकर ही!

उन आँखों में आँख डालकर उसने समझा अपने को।

नारी का नारीत्व सफल हुआ।

बालिका से युवती हुई।

युवती से...हाँ ! मातृत्व हृदय में उत्पन्न हुआ !

मातृत्व !

नारी, नारी हो गई ।

शून्य आकाश में तारे प्रसन्न हो रहे थे ।

: ३ :

एक बूढ़ा-सा रोगी ।

लाचार, बेबस, अपाहिज ।

महीनों का बीमार ।

बड़ा-सा कमरा । चारों ओर से बन्द ।

कीमती सामानों से भरा हुआ ।

रोगी अमीर जान पड़ता था ।

उसके पास ही बैठा था, एक अधेड़-सा पुरुष ।

सच ही, तो बीमार के पास हर वक्त कोई न कोई रहना ही चाहिये ।

अधेड़ पुरुष घोर चिन्ता में मग्न था ।

सहसा घड़ी ने - टन !

चौंककर उसने देखा साढ़े चार बज रहे थे ।

सुबह होने वाली ही थी ।

उसने एक बार देखा, उस रोगी शरीर को । उसकी आँखों के सामने घूम गई, फिर से, वह अपार धनराशि जिसका बूढ़े के मरते ही वह मालिक होता था ।

मरते ही ।

पर, यदि वह न मरा तो !

महीनों से वह इन्तजार करते-करते उकता गया था ।

और, रुपया तो उसे चाहिये, जितनी जल्दी हो उतना ही ।

दावतें !

मुजरे !

कर्ज़ें !

और वह एक बेकार-सा जान !...ऊँह !

उसने एक शीशी उठाई। काँपते हाथों से गिलास में डालकर, बूढ़े को उठाया और ओठों से लगा दी।

सहसा, उसके हाथों में जान-सी न रही।

बूढ़ा बिस्तर पर गिर पड़ा।

आह !

उसके कानों में आवाज़ आई....चौंककर चारों ओर देखा।

कोई नहीं।

ओह ! उसने एक बार बूढ़े को देखा।

बड़ी गर्मी...

खिड़की खोलकर बाहर देखने लगा।

तारे सकपका कर हट गये, बुझते चले गये।

सुबह हो रही थी।

पतन

युवक 'क्लीन शेव्ड' तो था, पर दाढ़ी, ऐसा जान पड़ता था, दो दिन से नहीं बनी थी। कुछ रूखा-फीका-सा मुख था।

छोटे-से दफ़्तर में टूटी मेज के सामने बैठ ढेर के ढेर कागजों पर लगातार लिखे जा रहा था। पास ही टाइप की मशीन थी।

यही तो उसका काम था। सुबह नौ बजे से शाम को पाँच बजे तक कलम घिसना, और महीने के अंत में तास रुपल्ली पाना!

उसने कलम रख दी। एक बार धुँधली आँखों से घड़ी की ओर देखा, और कागजों को सकेल कर उठ खड़ा हुआ।

मैले कोट के बटन बन्द किये, उँगलियाँ चटकाईं, और बाहर की ओर चल पड़ा।

चपरासी ने कहा—"चल दिये, बाबूजी?"

"हाँ," उसने कहा—"तुम बन्द कर देना!"

पैरों को घसीटते-घसीटते थोड़ी देर में वह घर पहुँचा। शहर के निर्धन भाग में उसका घर था।

घर वाली मैली धोती पहिने एक बच्चे को गोद में लिए बैठी थी। पति को देखते ही उठ खड़ी हुई।

युवक ने देखा पत्नी को। रूखे बाल, सूखा-सा मुँह, फटी धोती!

गोद का बच्चा दुबला-पतला!

घर भी गन्दा-सा, भरा-भरा-सा!

दोनों पति-पत्नी चुप ही थे।

कई साल हुए उनका ब्याह हुआ। उस समय पिता जीवित थे, घर का हाल भी अच्छा था।

उसके बाद ? पिता जी लड़ाई पर जाकर मर गये थे। घर सहसा अनाथ हो गया था।

बच्चा ज़रा-सा खाँसा।

"सर्दी हो गई है क्या ?" युवक ने पूछा।

"हाँ," युवती ने कहा—"खाँस तो रहा है।"

दोनों फिर चुप। बात करें भी, तो क्या ? दरिद्रता में गप्प नहीं लड़ाई जाती।

युवक सोच रहा था, यदि पिताजी न मरते, तो वह कम-से-कम बी० ए० तो कर ही लेता। फिर कोई अच्छी नौकरी मिलने की आशा तो रहती। इन्हीं तीस-चालीस रुपयों पर उम्र कटेगी, इतनी हीन भावना तो न होती।

पर न जाने कहाँ से, क्यों लड़ाई आ गई ? पिताजी चले गए, और यह सब हो गया।

स्त्री ने कहा—"मकान-मालिक आया था ?"

"हूं !"

"और दवा भी तो..." कहते-कहते उसने ध्यान से देखा पति के मुख को। पीला-सा, बूढ़ा-सा !

उसका हृदय हिल उठा।

पर वह कर भी क्या सकती थी ? यही तीस तो रुपये थे, जिनमें सब कुछ करना पड़ता था।

वह तो बहुत चाहती थी कि उन्हें कुछ न कहे, पर...

वह जाकर पति के पास बैठ गई। ज़रा-सा मुस्करा कर, उसकी ठोढ़ी में हाथ लगा कर बोली—"क्या सोच रहे हो ?"

युवक ने उसकी ओर देखा। कहा—"मैं...मैं...यही सोच रहा हूँ कि यदि हिटलर पोलैंड पर आक्रमण न करता, तो क्या होता ?"

युवती ने सोच लिया था कि वह जहाँ तक होगा, पति को दुखी न करेगी। कभी भी किसी भी बात के बारे में उनसे न कहेगी।

बेचारे कितने दुखी रहते थे! करते भी क्या? तीस रुपये में होता ही क्या था?

कुछ हो या न हो, पर गृहस्थी तो बढ़ती ही है। बच्चे भी दो हो गये। खर्च भी बढ़ गया। आमदनी बढ़ने की सूरत ही क्या थी?

उन्हीं दिनों—

उसने कई बार देखा, सामने के घर से कोई उसे बार-बार देखा करता था सदा ही, दिन भर घर की खिड़की में खड़ा होकर।

सामने का घर ऊंचा था। बढ़िया था, रहने वाला भी धनवान् लगता था।

कभी-कभी वह गली में खेलते बच्चे को भी कुछ-न कुछ दे देता।

उसने मना भी किया। पर गरीब के बच्चे में मान नहीं होता। वह तो पड़ोसी के ऊपर लट्टू था।

युवती सब देख रही थी, समझ रही थी। पर समझ में न आता था कि करे तो क्या करे।

पति से कुछ कहना न चाहती थी। उन्हें तो और भी दुख ही होगा।

और कौन जाने बेचारे पड़ोसी वास्तव में दया ही करते हों। नाहक ही तो किसी पर सन्देह नहीं किया जाता।

धीरे-धीरे उसने सामने के पड़ोसी ने, युवक-पति से मित्रता बढ़ाई। घर आना-जाना भी प्रारम्भ किया।

दोनों भाई-भाई बन गये।

युवती बनी भाभी।

पति को भी मानो जीवन में दो घड़ी बैठ कर, बात करने, जी बहलाने को कोई मिला।

बच्चे तो चाचाजी के दीवाने ही थे।

युवती को भी वह बुरा न लगता था। देखने-सुनने में वह अच्छा था, हंसमुख भी।

किन्तु इससे यह न समझना चाहिए कि वह उस युवक को सचमुच पसन्द करती थी। न, न!

बात यह थी कि वह सब-कुछ समझ रही थी। भली प्रकार। पर कुछ कर नहीं सकती थी। साथ ही पड़ोसी की विनयशीलता भी उसे कुछ कहने न देती थी।

स्त्री-पुरुष की निगाह को सदा ही पहिचान लेती है। कुछ कहे नहीं, यह बात दूसरी है।

धीरे-धीरे पड़ोसी की लाई चीज़ों से घर भर गया। मेज, कुर्सी, पर्दे, प्याले वगैरह सब ही तो वह लाता था।

दोनों ही पति-पत्नी उसके बोझ से दबे जाते थे।

बार-बार वह कहते भी—"भाई, यह सब क्यों लाते हो।

पड़ोसी हंस कर कह देता—"क्यों, क्या यह मेरा घर नहीं है? भाई का घर भी तो अपना ही होता है!" और युवती की ओर शरारत से देख कर कहता—"भाभी तो आधी घरवाली होती ही है! क्यों न, भाभी?"

सब हँस पड़ते।

फिर क्या?

एक दिन—

पति कहीं बाहर गया था किसी काम से।

पड़ोसी ने आकर, थोड़ी-सी जबर्दस्ती से युवती पर अधिकार कर लिया। युवती भी अधिक कड़ाई न बरत सकी।

आधी जीत तो उसकी इनकी निर्धनता से ही हो चुकी थी।

युवती चुप रह गई।

थोड़े दिन, जिसमें पति-पत्नी को चाय, सिनेमा, साड़ी वगैरह सब ही आवश्यक हो चुके थे, बीते।

फिर पति को भी सब मालूम हो गया।

हो गया नहीं, उसने स्वयं अपनी आँखों से ही एक दिन देख लिया।

पूछने पर पत्नी ने सिर झुका लिया। दोनों पड़ोसी की दी हुई कुर्सियों पर बैठे थे। उनके बीच में उसी की लाई हुई मेज थी, उस पर उसी का भेंट किया हुआ मेजपोश पड़ा था।

युवक एक मिनट तक चुप रहा।

युवती ने सहसा घड़ी की ओर देख कर कहा—"क्या सोच रहे हो? सिनेमा नहीं चलोगे? उनके," वह जरा-सा यों ही झिझकी, फिर बोली— "आने का समय हो गया है।"

पति ने एक अँगड़ाई लेते हुए कहा—"चलूँगा क्यों नहीं! पर मैं सोच रहा था कि यदि हिटलर ने पोलैंड पर चढ़ाई न की होती तो आज..."

मैत्री

सुरेश मेरा बड़ा मित्र था। करीब-करीब एक जान दो कालिब समझिये। कालिज होस्टल में साथ खाना, रहना, पढ़ना—सदा साथ-साथ रहते थे।

बी० ए० करने के बाद हम दोनों अलग-अलग हो गये। फिर धीरे-धीरे जीवन की खड़-खड़ में मैं सुरेश को भूलने-सा लगा। पर, उसके पत्र बराबर आते थे, उतने ही प्रेम से भरे, वैसे ही रसदार।

मैं बहुधा जवाब भी न दे पाता था। फिर सुरेश का विवाह हुआ। कोशिश करके भी मैं उसके विवाह में न जा सका। उसने बहुत बुरा माना, यहाँ तक कह डाला था कि, मैंने उसे भुला दिया है।

मुझे सचमुच ही कुछ खीझ-सी होने लगती उसके ऐसे पत्रों से। कारण शायद यही था कि मैं उसे इतना प्रेम न करता था जितना वह मुझे। या, फिर—! न जाने क्यों मैं उसके पत्रों की 'टोन' पर हँस-सा पड़ता था।...

एक बार किसी काम से मुझे सुरेश के शहर ही जाना पड़ा। वह कई बार बहुत जोरों से आने को लिख भी चुका था। मैं सीधा उसी के घर जा पहुँचा।

वह इस तरह टूटकर मिला कि सब लोग देखने लगे। मैं भी एक बार तो उसके प्रेम से प्रभावित हो ही गया।

घर पर नहाने धोने के बाद उसने अपनी श्रीमती जी—नीला—से मेरा परिचय कराया। नीला!—ज़रा-ज़रा साँवली-सी लड़की; पर,

उसकी चाल में, बात-बात में अदायें जैसे कूट-कूट कर भरी थीं। और उसकी आँखें—एक दम बड़े-बड़े जलते अंगारों के समान थीं।

उसमें कुछ ऐसा था कि वह अनुपम सुन्दरी मालूम देती थी। मैं अकचका कर देखता रह गया।

फिर सहसा झेंपकर कनखियों से देखा—सुरेश की ओर। वह जरा-जरा मुसकरा रहा था।

क्यों ?

"मेरे सबसे प्यारे मित्र हैं यह नीला !"—सुरेश ने कहा—"मैं इनमें और अपने में कुछ भी भेद नहीं समझता, पर न जाने यह क्यों कटे-कटे से रहते हैं !"

"ओह !" मैंने हँसकर कहा—"आप सुरेश की बात पर जरा भी ध्यान न दीजियेगा।"

नीला मुसकराई। वह पूरा दिन गप-शप में बीत गया।

मैं तो मानो नीला से बँध सा गया था।...

उस दिन शाम को हम लोग बाग में बैठे थे। नीला, सुरेश और मैं।

सहसा सुरेश ने कहा—"भाई, तुम्हें बँधना पड़ेगा। तुम मुझसे अलग-अलग होते जा रहे हो, वह मुझसे सहन नहीं होता।"

"कैसे बाँधोगे ?"—मैंने हँसकर कहा।

सुरेश ने कहा—"नीला से पूछूँगा।"

बस, बात वहीं की वहीं रह गई।...

रात को मैं लेटा करवटें बदलता रहा। नींद ही नहीं आती थी। न जाने क्यों ?

सामने खिड़की में से चाँदनी दीख रही थी और मेरा मन उस चाँदनी में न जाने कहाँ-कहाँ भागता फिर रहा था।

सहसा, मैं चौंक पड़ा। बाहर हल्की-सी पैरों की चाप सुनाई दी। मैंने साफ सुना—वह जरा देर दरवाजे पर रुककर फिर हट गई।

दो मिनिट बाद फिर वही बात !

मैंने उठकर दरवाजा खोल दिया। देखा—नीला !

अकचका गया। काँपकर बोला—"कहिये !"

धीरे-धीरे नीला ने कहा—"नींद नहीं आ रही थी, मैंने सोचा कि जरा—"

हम दोनों बरामदे में खड़े सामने दूर तक फैली चाँदनी को देखते रहें। मानो जादू के देश में हों।

दोनों चुप थे। मैं कनखियों से उसे देख रहा था। ओह, कैसी सुन्दरी है यह !

सहसा वह न जाने कैसे मुझसे सट-सी गई !

मैं काँप उठा। देखा—नीला उन्हीं आंखों से मुझे देख रही है। मैं सुधबुध भूल गया। संसार नृत्य करने लगा।...

नीला मेरी भुजाओं में—मेरे प्याले होंठ—

मैंने उसे गोदी में कर लिया। वह निस्पन्द मेरी गोदी में पड़ी रही !

फिर कमरे में उसे ले आया, किवाड़ बन्द कर लिये !...

दूसरे दिन सुबह, चाय पर।

सुरेश टोस्ट पर मक्खन लगाता-लगाता बोला—"भई, अब तो शायद तुम दूर-दूर न भागोगे !"

मेरा तो मानो हृदय रुक गया। फँसे गले से बोला, "क्यों ?"

"नीला ने तुम्हें बाँध लिया है न ?"—उसने धीरे से कहा।

मेरे काटो तो खून नहीं !

"सुरेश !"

उसने कहा—"पागल कहीं के ! अरे जिसको मैं प्रेम करता हूँ, उसे तुम भी करो ! जिसमें मुझे सुख है, उसमें तुम्हें भी हो। जो मेरी है वही तुम्हारी भी हो—यही तो सच्ची मित्रता है, इसी से तो तुम्हें बाँधा गया है।"

मैं हक्का-बक्का-सा देख रहा था—सुरेश को नीला को !

वे दोनों पागल थे या मैं ? शायद कोई नहीं बता सकता।

कुछ पैसे

शीला बैठी की बैठी रह गयी।

मानो हाथ-पैरों में जान न हो। सत-सा निकल गया हो।

शीला युवती थी। उसके पास वह धन था, जिसे लूटने-को सभी लालायित रहते हैं।

रूप, यौवन। उसकी मदमाती आँखों और उसके रूप में कुछ भी कमी न आयी थी उसके दुर्भाग्य के कारण।

शीला का विवाह हो चुका था—और अब वह विधवा थी।

विधवा! विधाता का मूर्तिमान अभिशाप!

ससुराल में रह सकना तो असम्भव ही था। उसे कौन बिठाकर खिलाता। बिना पति की स्त्री का, बिना माँ की लड़की से भी अधिक बुरा हाल होता है।

झख मार कर शीला घर अपनी माँ के पास लौट आयी।

जिस चिट्ठी को पाने वाला ही न रहा हो, वह भेजने वाले के ही पास लौट आती है।

और वहाँ वह और उसकी बूढ़ी माँ गले मिलकर रो लीं। पर रोने से कहीं काम चलता है। आंसू पेट नहीं भरते।

शीला की माँ और शीला—दोनों ही तो अपाहिज थीं, पर, भीख माँगने से लाचार।

शीला ने कुछ काढ़ना, बुनना शुरू किया।

पर बेचे कहां। किसके पास जाये यह कहने को कि वह खरीद ले। उसके खरीदार तो मिल सकते थे, पर उसकी बनाई चीज तो झंझट ही था।

रात-रात-भर आंखें फोड़कर भी तो दोनों का पेट न भर पाता था।

और शीला नित्य ही देखती, उसे घूरनेवालों की कमी न थी—सीटियाँ बजतीं, बांके जवान अकड़-अकड़कर अपनी जवानी दिखाते।

देख-देखकर शीला अपने फटे आंचल में और भी छिप जाती।

एक दिन उसे किसी ने एक पर्चा-सा दिया—

शीला ने पढ़ा। वही प्रेम-मुहब्बत की बातें थीं। मर जाने का दावा था, शायद धमकी भी थी।

शीला खूब रोई। गरीब का बस आँसुओं पर ही चलता है।

बड़ी कोशिश से शीला को कुछ काढ़ने का काम एक सेठ के यहाँ मिल गया। हफ्ते-भर काढ़ लेने के बाद कुछ आने पैसे मिल जाते थे, वही उन दोनों का पेट भर देते थे।

कहानी कुछ पुरानी-सी हो रही है। पर, किया भी क्या जाये? पैसा तो पुराना ही है न? इसका राज्य भी सदा से ही रहा है।

कहानी पुरानी होकर भी तो नित्य ही हमारी आंखों के आगे आती रहती है। नयी ही तो है। नयी और पुरानी का अन्तर ही क्या? कपड़ा धुलकर नया-सा ही तो लगता है।

हां, तो शीला के दिन कट रहे थे।

एक दिन उसकी माँ बीमार पड़ गयी। बूढ़ी थी, बीमार तो पड़ना ही था।

फिर पैसे की महिमा भी तो होनी थी। न बीमार पड़ती तो काम कैसे चलता?

दवा होती भी कैसे और कहां से। गरीब की बीमारी का इलाज भूखा रहना है या फिर मौत। दवा तो दामों से मिलती है।

जब बीमारी ही भूख से हो तो···

फिर भी दवा तो करते ही हैं।

शीला ने भी की।

बीमारी बढ़ती गयी। उसे बढ़ना ही था।

एक दिन शीला के पास कुछ भी न रहा। था ही क्या? जो भी दो-चार पैसे थे, दवा में खर्च हो गये थे।

एकदम लाचार थी।

उधर माँ का हाल····

हार कर शीला आज मांगने चली।

पड़ोसियों में से किसी ने इशारे से, आंखों से—किसी ने साफ-साफ ही कुछ कह दिया।

शीला धरती में गड़-सी गयी।

पर, गरीब लौटकर बोल भी तो नहीं सकती है।

धीरे-धीरे, एक दिन शीला को—झुकना ही पड़ा।

अपनी मुट्ठी में—कोमल हाथ में—वे कड़े पैसे दाबकर वह घर आयी।

मन-मन-भर के पैरों से।

माँ को पथ्य दिया।

और·····

और इस दुःख-कथा का एक ही दृश्य और है।

कुछ दिन बाद—

शीला अब समझदार हो गयी थी।

घर भी साफ था। सजावट भी थी। बड़े से आईने में देखकर वह सुन्दर भी बनती थी।

थी भी तो।

और उस चमकदार कमरे में आने वाले अब पैसे नहीं, रुपये देते थे।

रात भर के प्रेम के बाद—सुबह शीला मुट्ठी में वे पैसे रुपये दबाये जाकर माँ को दे देती थी और—और पड़ जाती थी चुपचाप!

आने-जाने वाले चले जाते थे।

पर, कभी शीला सोचती—

क्या ?·····जाने भी दो उन बातों को।

पेट भरने को पैसा तो चाहिए ही।

यह है समाज की पीड़ा और मानव-जीवन की शोचनीय दुर्बलताओं की विडम्बना।

पाप का पथ

सर्र-सर्र करके पंखा चल रहा था। बैंक के क्लर्क तन्मय होकर कागज़ों में निगाह गड़ाये काम कर रहे थे। शाम होती जा रही थी और काम निबटाये बिना उठ सकने की हिम्मत किसकी हो सकती थी!

केवल जगदीश, बार-बार, उत्सुकतापूर्वक, निगाह उठाकर घड़ी की ओर देख लेता था।

जगदीश के कन्धे सिकुड़े, छाती तंग, आंखें छोटी-छोटी और डरी हुई-सी जान पड़ती थीं, मानों उन्होंने सदा ही सब के आगे झुक जाना सीखा था।

उम्र कोई छत्तीस वर्ष। लगातार चौदह वर्षों से क्लर्की कर रहा था, उसी मेज़, उसी कुर्सी पर बैठ कर।

शादी हुई ही न थी। करता भी कैसे? थोड़ी-सी तन्ख्वाह, देहली का रहना और, न मां, न बाप। जगदीश क्वाँरा ही रह गया। सचमुच में उसकी डरी प्रकृति ने विवाह कर सकने का साहस कभी एकत्रित ही नहीं किया। यदि मां-बाप होते तो जगदीश किसी का आदर्श पति होता।

अब तो, जीवन के पिछले दस वर्षों में कभी कुछ हुआ ही न वही था। सुबह को उठना, वही चाय, दफ्तरमें आठ घण्टे मग़ज़पच्ची और रात को सूनी एकान्त कोठरी—बस।

उसके साथी बच्चों के बाप थे। आये दिन बैंक में स्त्रियों के सम्बन्ध में चुहलें हुआ करती थीं।

जगदीश कुछ समझता था, कुछ नहीं। सुनी-सुनाई बातों से

किसी विषय का पूरा ज्ञान तो असम्भव ही है। वह उदासीनतापूर्वक अपनी आंखें कागज पर जमा लेता था।

उसके जीवन में कभी कोई स्त्री आई ही नहीं थी। कभी-कभी दूर से डरे हुए बच्चे की भांति वह नई चावड़ी में बैठने वाली मूर्त्तियों के दर्शन कर लेता था और आश्चर्य करता था वहां जाने वालों पर। उसकी खुद जाने की कभी हिम्मत हुई ही नहीं थी।

किन्तु आज बात ही दूसरी थी। आज ही एक क्लर्क, नवान छोकरा, बतला रहा था कि उसके ताँगेवाले ने पिछली रात उसे एक माल दिखलाया था—बिल्कुल जवान, खूबसूरत और सस्ता।

उसकी चटपटी बातों ने जगदीश के मन की सोई-सी भावना को फिर हिलाया-डुलाया? गौर से सब बातों को सुना—ओह! यह तो बिल्कुल आसान था। उसे केवल ताँगेवाले से कह देना भर था—बस। इतनी बात तो वह कर सकेगा। फिर क्यों न···? आखिर संसार के और मनुष्य भी तो स्त्रियों के बारे में जानते हैं। और वह·····?

आज ही दफ्तर के बाद वह·····। कल से वह भी शान से अपने क़िस्से लोगों को सुना सकेगा।

उसका पीला मुँह तमतमा उठा।

घड़ी में टन्-टन् कर के पाँच बजे।

जगदीश क़लम रख कर उठ खड़ा हुआ। बिना किसी से बोले, किसी ओर देखे, वह जल्दी से निकल गया। कोई रोक न ले। बाहर आकर वह ताँगे की ओर बढ़ा। वर्षों में पहली बार।

'कहाँ चलूँ?'—ताँगे वाले ने पूछा।

जगदीश ने उसकी रेशमी बनियाइन और तेल से भरे बालों को देखा और ·····पर वह एकदम से कह, न सका कण्ठ रुक-सा गया।

'घूमने···कहीं भी···'—उसने कहा।

ताँगे वाले ने उड़ती निगाह उस पर डाली और ताँगा हाँक दिया? ताँगा चला जा रहा था। जगदीश सोच रहा था कि क्या कहूँ,

कैसे कहूँ। शर्म से पसीना आ रहा था। सामने बोर्ड दिखाई पड़ा। लिखा था—'होटल और बार।'

जगदीश के मन में खट से हुआ और सारी बात एक साथ मन में आ गई—अरे! बातों के लिये चाहिए हिम्मत और फिर उसका तो पहला ही मौक़ा था।

फिर ताँगा रुका और जगदीश इधर-उधर देखकर अन्दर घुस गया। बैरा ने सलाम किया। माथे का पसीना पोंछते हुए जगदीश ने कहा—'ह्विस्की'। उसे सिर्फ़ यही नाम मालूम था।

रंग शर्बत-सा, पर कितनी कड़ी बू! जगदीश साँस रोक कर, दम घोटकर पी गया। कलेजे में आग की रेखा-सी खिंच गई। उसने दूसरा पैग पिया—तीसरा पैग''''''! सर घूमने लगा चेहरे पर सुर्खी दौड़ गई। एक अजीब हिम्मत मालूम पड़ने लगी! झूमते हुए बाहर आ कर उसने ताँगे वाले से कहा—'ए तांगे वाला'''एकदम'''कोई खूब सूरत लड़की।'

तांगे वाले के होंठों पर एक हल्की-सी हँसी आई और लौट गई। घोड़ा दौड़ने लगा।

जगदीश गर्व से दोनों ओर देखने लगा। मानो वह चाहता था कि लोग देखें कि वह भी कोई है। मगर देहली के लोगों ने निगाह उठा कर भी न देखा। एक गली के मोड़ पर तांगा रुका। पीछे-पीछे आने को कह तांगे वाला गली में घुस गया। अँधेरी गली के पार, एक घर में जगदीश बाबू घुस गये। घुसते ही देखा, चार पाँच मुस्टण्डे बैठे थे।

तांगे वाले ने कहा—'बाबू को शौक का सामान चाहिये।'

एक मुस्टण्डे ने कहा—'आइये बाबू जी।'

जगदीश जरा-सा झिझका। अकेली जगह! मुस्टण्डे की डरावनी सूरत!

"बैठिए, सरकार!"—उसने फिर कहा।

जगदीश बैठ गया। दिल बड़े जोर-जोर से धड़कने लगा, न जाने क्यों ?

उसने मन ही मन हिम्मत बाँधी—उँह ! मर्दों का तो यह रोज का काम होता है। इसमें डर क्या ? और फिर शहर है, कोई जंगल तो है नहीं ?

यही आकाश-पाताल उसके मन में घूम रहे थे। सहसा उसे ध्यान आया। मान लो इस अकेले घर में यह लोग उसे लूट ही लें तो वह रपट भी न कर सकेगा !

डर के मारे उसके माथे पर पसीना आ गया।

दूसरे कमरे में कुछ फुसफुसाहट हो रही थी। बड़े ध्यान से सुनने पर भी वह कुछ न समझ सका।

कौन जाने कहीं उन्हें···या अगर जान से भी मार डालें···पसीना पसीना···ओफ !

छम-छम करती एक के बाद एक, कई लड़कियाँ आकर खड़ी हो गईं। पीछे-पीछे मुस्टण्डा भी।

जगदीश की घबराहट बेहद बढ़ रही थी। कैसी आफत में आ फंसा था।

'हाँ सरकार !' मुस्टण्डे ने पूछा।

जगदीश काँप रहा था। इन्हीं में से किसी एक को, किसी को भी···ओह ! जान तो छूटे। सब के सब कैसे उसे घूर रहे थे। यह भी कोई ऐश है। ओह !

उसने, जिधर हाथ उठा, उसकी तरफ इशारा कर दिया।

बाकी धीरे-धीरे चली गईं।

'दस रुपये।'

दस रुपये दे दिये।

अब लड़की और वह—

जगदीश की दुनिया घूम रही थी—काँप रही थी। कानों में धम-धम'' हृदय मानो फट कर ही रहेगा।

लड़की गुमसुम उसे देख रही थी। एकाएक जगदीश ने कांपते हुए कहा—'मुझे जाने दो, माफ करो। यह लो, दस रुपये।'

लड़की ने आश्चर्य से उसे देखा, फिर नोट को और फिर ठहाका मार कर हँस पड़ी।

जगदीश मानो धक्का खाकर भागा, गिरता पड़ता न जाने कैसे।

शराब का नशा''सर का चक्कर''घबराहट।

ताँगे वाले ने कहा—'पैसे?'

पैसे! पैसे!

जगदीश को चक्कर आ गया।

———

भड़भूजन

नाम था रामकली।

सड़क के मोड़पर ही छोटी-सी छप्पर की उसकी दूकान थी। उसी में भाड़ था, उसी में बेचने के लिये रखे भुने दाने रहते थे।

वहीं एक ओर रात को वह पड़ रहती थी।

फटी-सी धोती पहने, कोई चालीस साल की वह वृद्धा—बूढ़ी ही तो दिखाई पड़ती थी वह—अपने दिन काटती थी।

देखकर कोई भी तो नहीं कह सकता था कि रामकली कभी युवती रही होगी, सुन्दर भी रही होगी।

निराश-सी थकी-सी होती थी वह।

कभी, बहुत दिन बीते, इस अनमनी रामकली ने ही एक बार प्रेम किया था।—

कोई तेरह साल की उम्र होगी तभी उसका ब्याह हो गया था।

गरीब घर की लड़की थी। बचपन, रोकर भूखे रहकर ही बीता था। बाप दिनभर मजूरी करके शाम को ठर्रा पीकर जिस तिस की—रामकली की भी—डंडों से खबर लेता था।

माँ सौतेली थी ही। पहली, उसकी असली माँ तो न जाने कब मर गयी थी; ऐसा रामकली ने सुना भर था। उसके बाद ही उसका बाप नया ब्याह कर लाया था।

सौतेली माँ, लड़की, टीप टाँप से रहने वाली थी। वक्त-बेवक्त रामकली देखती, उसके पास न जाने कौन-कौन आदमी आया करते थे।

रामकली को माँकी आज्ञा थी कि बाप से कभी भी उनके बारे में न कहें, नहीं तो डण्डों से ठीक कर दी जायगी।

ऐसे कटा था, उसका बचपन।

तेरह साल की बालिका, पर दुनिया को समझने वाली वह हो गयी थी। सुन्दर भी खूब थी।

उन्हीं दिनों उसने देखा एक युवक को अपनी माँ से बातें करते। गोरा, चिट्टा, सुन्दर। धनवान भी था शायद।

सहसा माँ ने कहा—"ले, यह बाबूजी हैं, इन्हें जरा बिठाइयो, मैं अभी आऊँगी।"

रामकली चुप।

उसका कलेजा धकधक कर रहा था। बदन काँप रहा था।

माँ चली गई! सनसनाते कानों से रामकली ने सुना बाहर के ताले में चाभी को घूमते।

युवक मुस्करा रहा था।

फिर...फिर, रामकली ने उसी युवक को प्रेम किया था। सचमुच ही जीजान से। युवक ने भी कहा तो ऐसा ही था।

थोड़े से दिन तो बीते मानो सपने से। बाप की डाँट-फटकार सभी कुछ वह हंसते-हंसते सहने लगी।

और माँ तो उसे सचमुच ही प्रेम-सा करने लगी थी।

सहसा युवक का आना बन्द हो गया।

बेचैन, परेशान, रामकली ने दो चार दिन बाद माँ से धीरेसे पूछा।

"अब तेरा ब्याह जो होगा"—माँ ने कहा।

रामकली सन्न रह गयी।

ब्याह!

वह कैसे कर सकेगी अब? वह अपने पति को प्यार ही कैसे करेगी?

"ब्याह कैसे होगा, अम्मा?"—उसने डरते डरते पूछा।

"क्यों, क्या.....?"—माँ ने सहसा ही आशंकित होकर पूछा।

"न"—रामकली ने कहा, और चुप हो गयी। कहे भी क्या।

सहसा हिम्मत करके कह ही दिया—"क्या उन्होंने भी·····कह दिया है?"

माँ सहसा हँस पड़ी।

"पगली, वे तो रुपया ही दे रहे हैं खर्चे के लिए।"

रामकली के काटो तो खून नहीं।

ओह! वे प्रेम की बातें, वे कसमें,·····सब क्या दिखावा थीं?

व, न, माँ झूठ बोल रही थी।

इसी उधेड़ बुन में रामकली पड़ी रहती थी। दिन बीते जा रहे थे, पर उसकी समझ में ही न आता था कि क्या करे।

ब्याह से कुछ दिन पहले वे आये। रामकली को मानो किनारा दिखाई दिया।

"तुम मुझे यहाँ से ले चलो"—उसने कहा।

"क्यों"—उन्होंने आश्चर्य से पूछा—"तुम्हारा ब्याह जो हो रहा है!"

रामकली मानो ऊपर से गिर पड़ी। उन्हें देखती ही रह गयी।

"तब क्या तुम·····?"

उन्होंने सर हिलाया—'हाँ।'

"पर," उसने अटकते हुए पूछा—"तुमने तो कहा था कि तुम मुझे न छोड़ोगे।"

उन्होंने उसकी ठोढ़ी छूकर कहा—"सो तो ठीक है। ब्याह के बाद भी तो यहाँ आओगी न?"

रामकली सहसा दरक कर अलग हो गयी।

ओह!

उसने ब्याह कराया, मशीन की भाँति बूढ़े पति के साथ।

माँ ने रुपये लेकर उसे बेच दिया था!

पर, रामकली को क्या?

वह फिर लौटकर घर न आयी। माँ मरने को मर गयी, बाप भी चलता बना। रामकली न आयी।

एकबार 'वे' भी पहुंचे थे उसके घर। पर, उसने उन्हें खड़े-खड़े ही निकाल दिया था।

और पति के मरने पर—

रिश्तेदारों ने भी·····

सबसे जान बचाकर रामकली ने भड़भूजे की दूकान कर ली थी।

बस, यही उसका जीवन था। यही अश्रु के दो बूँद भर उसकी कहानी।

———

वह तुझे भूल गये

शायर ने कहा—'वह तुझे भूल गए, तू भी उन्हें याद न कर।'

तर्क की दृष्टि से ठीक होकर भी यह ठीक नहीं है। हमारे कितने कार्य तर्क के अनुकूल होते हैं?

कितने हो सकते हैं? और शायद, इस याद न करने वाली बात में भी तो एक प्रकार की परवशता है। वह याद आ ही जाते हैं, तभी तो याद न करने की ठानी जाती है।

पर, यह सब मैं क्यों लिख रहा हूँ। बात यह भी परवशता की ही है।

मैं ही उन्हें नहीं भूल सका हूँ। वह·····वह तो आज भूल ही गये हैं। हो सकता है, मन के किसी अंधेरे कोने में उन्हें कभी कोई अस्पष्ट छाया-सी कभी दिखाई दे जाती हो। और उसे वह पहिचानते हों या न तो।

जवानी के नये दिनों में हो तो उन्हें देखा था। कहते हैं, वह आयु ही रोमान्स की होती है।

कालेज में पढ़ता था। जीवन में मस्ती से थी। सोचता था इसी मस्ती से लम्बे जीवन को पारकर जाऊँगा। सब ही तो ऐसा सोचते हैं। पर उस सिंहावलोकन के बाद जब आगे बढ़ने का समय आता है·····तब, तब की कहानी ही दूसरी है।

हाँ, तो आप सुनकर चौंक पड़ेंगे कि वह कौन थी। और क्या? रोमान्स की आयु जो थी।

वह थी वही जिनके यहाँ आप और मैं निर्द्वन्द्व भाव से जा सकते हैं। जो नारी होकर भी·····खैर तो मैं ने भी उसे देखा—किसी मुजरे में।

यों ही उड़ती निगाह से। पर देख लेने के बाद, मानो उड़ने की शक्ति न रही। कबूतर की अड्डे को देख लेने के बाद, जो दशा होती होगी, कुछ वैसा ही सा लगा।

कौन आगे उड़े ? कीसी भावना।

और वह·····वह संसार भर का अड्डा थी। कोई भी कबूतर बैठ सकता था, जब तक उसमें बैठने की क्षमता हो, या जब तक कोई अधिक क्षमताशाली उसे आकर उड़ा न दे।

यही मैं न जानता था।

अड्डे पर बैठ जाने का भी मन न था, या साहस न था।

नारी ! वह रहस्यमयी पहेली ! और वह भी कैसी नारी ?

मैं सच ही खो-सा गया !

दो-चार दिन बीत गए। मैं समझ रहा था कि मेरे मन की बात कोई न जानता होगा। मुझे अपने मनोभावों को छिपाने की शक्ति पर अभिमान था।

हाय रे ! जवानी का अभिमान।

दो, चार दिन बीतते न बीतते उन के यहाँ चला गया। चार दोस्तों के कारण नहीं। अपनी हिम्मत से भी नहीं।

उनके कहने से।

जी हाँ, उनके ही।

न जाने किसने, कहाँ से कह दिया, उसने याद किया है।

और, हम बेदाम के नौकर·····दुम हिलाते पहुँच गये।

अच्छा जी, यह मनुष्य की, युवक की कौन-सी मानसिक अव्यवस्थता है कि वह नारी की संरक्षता चाहता है। उसका सारे का सारा आडम्बर कि वह औरों से प्रेम करता है, दुःख सहता है, मरता और जीता है, केवल इसीलिए तो होता है कि उसे संरक्षता मिल जाय।

यही मेरी दशा थी।

मैं भी पहुंचा।

बिजली के चमकते प्रकाश में झलमलाती हुई वह रूप की राशि बैठी थी। जैसे अगणित मुद्राओं का ढेर चमक रहा हो।

गाना भी बन्द हो गया। बातचीत भी हुई·····

मेरा सर घूम रहा था, दूसरे दिन। वह सब क्या था?

क्या मुझे संरक्षता मिल गई थी?

एक दिन एक मित्र ने फिर कहा—'बुलाया है।'

पैरों में पर लग आये।

यों ही कुछ दिन बीतते रहे। यहाँ तक कि निश्चय हो गया कि उड़ना शुरू करते ही अड्डा मिल गया था।

अब आगे अधिक न लिखूंगा। केवल दो दिनों की बात भर लिख देनी है। बस।

एक दिन—

देर से गया था उसके यहाँ। यों ही मन ठीक-सा न था। सोचा, थोड़ा जी बहला कर कुछ लिख ही डालेंगे।

वह अन्दर के कमरे में थी।

मैं चुपचाप बाहर बैठ गया।

दस-पाँच मिनट बाद झांक कर देखा·····ओह! एक पुरुष था।

बहुत देर बाद मैंने पूछा ही इस बेशर्मी का कारण।

कारण पूछने की आवश्यकता भी यों पड़ी थी कि बातचीत कुछ बड़े प्रेम से हो रही थी।

उन्होंने बड़े आराम से कहा,—'वह! वह तो हमारा काम ही है। जैसा आदमी हो, उससे वैसी ही बात करना।'

मैं कुछ चुप-सा रह गया। अनजानते ही मुझे एक धक्का-सा लगा।

जैसा आदमी हो·····वैसी ही·····बात!

तब तो शायद·····

कुछ दिन बाद। एक और दिन। मेरे एक विशेष मित्र आये थे, या न जाने क्या बात थी। बहरहाल मैं उनके यहाँ गया।

किवाड़ पीटे।

न खुले।

जवाब मिला—सो रहे हैं।

बस।

न जाने बात जमी-सी नहीं।

आधे घण्टे बाद देखा—वह जाग रहे थे, किसी मेहमान की खातिर में लगे थे।

❀ ❀ ❀

सोचता हूं, यह था क्या? कोई मानसिक प्रयोग था क्या?

और आज, आज तो वह भूल ही गए हैं। पर मैं?

उन्हें न भूल सका हूं। इस बुढ़ेपन में भी।

भावुकता ही तो जीवन है।

जीवन में ठोकर भी तो भूल जाने के लिए नहीं लगती है।

चारे की खोज में

चिड़िया ने उड़ती-सी निगाह डाली और सहम-सी गई।

चौंक कर, रुक कर चारों ओर देखने लगी।

सामने ही तो झाड़ी में रखा था, वह छोटी-सी कटोरी में दानों का ढेर।

इतना सारा भोजन।

चारों ओर कुछ सींकें-सी थीं। पर, एकदम निश्चल, मानों धरती से ही उग रही हों।

ऐसा पहिले तो कभी भी न देखा था। एकदम इतना भोजन कैसे आया वहां?

धोके की आशंका से वह चौकन्नी हुई। नई बात थी न? और उसका हृदय कहता था कि हर नई बात की, हर नवीन आकर्षण के पीछे धोखा हो सकता है।

चारों ओर खूब ध्यान से देख कर भी तो कुछ न दिखाई देता था। उसे डर था, केवल मनुष्य से। उस, दो हाथ-पांव के चालाक जीव से।

पर, वह कहीं दूर-दूर न दिखाई देता था।

धीरे-धीरे वह दाने की ओर बढ़ी।

पेट में भूख भी थी।

घोंसले में बच्चे भी थे—भूखे ही।

और, इतना ढेर का ढेर खाना तो सारे दिन कोशिश करके भी न मिल सकता था।

वह भूल गई, अपनी सतर्कता को।

धीरे-धीरे, एक मन से, खोई-सी घबराई-सी, वह दाने तक पहुँची।

उसे दिखाई ही न दिया वह पतला तागा और पिंजड़े का खुला द्वार।

वह अन्दर थी।

पहिला ही दाना चोंच में उठाया था कि···तागा खिंचा और द्वार बन्द हो गया। वह बन्दी थी।

एक क्षण भय से बेसुध-सी होकर उसने देखा—भीमकाय, विजय से मुसकराते हुए चिड़ीमार को और·····

दुःख, क्रोध और खीझ से भर कर वह पिंजड़े की तीलियां तोड़ने की चेष्टा करने लगी।

हाय रे, निष्फल क्रोध!

वह थक गई, पर नुच गये, दर्द करने लगे, चोंच चुटियल हो गई।

वह एकदम जड़ होकर मनुष्य को देखने लगी।

वह देख रहा था। चुपचाप। अब उसने धीरे से मुस्करा कर कहा—'अब रहने दे, ज्यादा नखरा न कर, मजे में दाना खा और मौज कर।'

चिड़िया न समझी।

पिंजड़ा उठाते ही, उसने एक बार फिर चेष्टा की, रोकर, चिचिया कर···बेकार।

पहिले उसने दाना न खाया···बच्चों की, घर की याद, बन्धन का दुख···

फिर सब भूल गई।

उसी में रहने लगी। मन भी लग गया। गाने भी लगी।

वह प्रसन्न थी।

एक दिन वह बेच दी गई। उसने अपनी नई मालकिन को देखा—सुन्दर, बनी, सजी, युवती।

कमरा भी खूब सजा हुआ था।

'बड़ी सुन्दर है,'—युवती ने कहा।

चिड़िया चुप।

× × ×

कई वर्ष पहिले।

एक बूढ़ी विधवा की लड़की थी वह।

विधवा, पीस-कूट कर काम चलाती थी। और उस थोड़ी-सी आमदनी से, दोनों मां-बेटी जैसे-तैसे पेट भर लेती थीं।

एक दिन माँ बीमार पड़ गई।

रोग—बुढ़ापा, गरीबी।

लाचार युवती को अकेले ही, अपनी फटी धोती सँवार कर, काम की खोज में जाना पड़ा।

खाना तो चाहिए ही।

एक दिन एक पड़ोसी के यहां—

सूना घर था। मालकिन गई हुई थी।

उसके सामने था, मनुष्य, रुपया, कपड़े, आराम का सामान।

सहम कर, सिटपिटा कर, डर कर·····वह चुप हो गई।

सोचा था—

पर, कुछ दिन बाद। मालकिन लौट आई।

रोते-रोते उसने कहा—

'अब मेरा क्या होगा?'

'होगा क्या?' पुरुष ने कहा—'जो सब का होता है, कोई मेरा ठेका थोड़ा ही था।'

वह धम से बैठ गई। अब?

'बस, बस, बहुत नखरे न दिखला'—उसने थोड़ा हँसकर, कहा—'मजे में मौज कर।'

फिर भी वह उस पड़ोसी को छोड़ न सकी। सोचा—दो रोटी तो दे ही सकेगा।

एक दिन—वह भी नहीं।

फिर, एक, दो·····

आखिर वह उस सुन्दर से सजे कोठे पर थी।
पहिले दिन, सजा कर वह पेश की गई, खरीदार के सामने—
उसने माल खरा किया और कहा—
'बड़ी सुन्दर है तू।'
वह गुम-सुम खड़ी रही।

—:o:—

गुलशन

आसमान में बिखरी हुई चाँदनी। सामने दूर तक फैली हुई हरियाली। पेड़-पत्ते मानो अभी दूध में नहा कर आये हों।

दूर, बहुत दूर, धुँधली-सी किले की चहार-दीवारी।

आगरे का सुन्दर किला।

अपनी आरामगाह की छत पर—सामने शाहजादा मुराद बैठे चांदनी का लुत्फ उठा रहे थे।

गाव तकिये के सहारे अधलेटे से मुराद ने अपनी मस्त; अधखुली आखें जमाईं गुलशन पर।

और गुलशन—ईरान का तोहफा, शाहजादे की चहेती, गुलाब-सी सुन्दर, संगमरमर-सी दूधिया और—शराब के भरे प्यालों-सी कजरारी आँखें।···जमीन का चाँद!

गुलशन ने शरमा कर अपनी बड़ी-बड़ी आँखें नीचे झुका लीं।

मुराद ने मानो दो प्याले और पी लिये। उसने कहा—

"गुलशन! दिलरुबा!"

गुलशन ने धीरे से सिर उठाया।

देखा—वह, जिसे औरत कभी गलत समझ नहीं सकती। शाहजादे की मोहब्बत उसकी आंखों से झांक रही थी।

"साकी, गुलशन!" मुराद ने निहाल होकर कहा—"एक प्याला शीराजी···!"

प्याला खतम करके मुराद ने सहसा गुलशन को पास ही बिठा लिया

"शाहजादा साहब!" गुलशन ने डर और अदब से कहा।

"ओह," मुराद ने कहा, "शाहजादा मत कहो ! मुराद तुम्हारे लिये शाहजादा नहीं है, गुलशन ! तुम्हारा गुलाम है वह !"

गुलशन का हृदय जोर-जोर से धड़कने लगा—डर से, मोहब्बत से.....

"तुम मेरी ही हो, गुलशन !" मुराद कहता गया, "और मेरी ही रहोगी !"

हल्की हल्की सुगंधी हवा गुलशन के बालों से खेल रही थी।

तब धीरे से उसके होंठ फड़के।

मुराद ने सहम कर, गिड़गिड़ा कर कहा, "क्यों ! क्या फकीर की अर्ज़ खाली ही जायेगी ?"

गुलशन के माथे पर पसीना चमक आया।

"मगर हुजूर तो बादशाह...!"

"ऊँह," मुराद ने जवानी के जोम में कहा, "मैं भी तो आदमी हूँ। होंगे वह शहन्शाह, पर तुम तो मेरी बेगम होगी।"

गुलशन प्रेम से पागल हो गई। चाहा जी भर कर रो दे।

मुराद उसका...ओह !...

गुलशन का सिर मुराद के कंधे पर झुक गया।

सहसा पीछे का परदा हिला और एक मनुष्य-छाया चोर की तरह निकल गई।...

पर बाहर छत पर चांदनी और भी हँस रही थी। मस्त होकर मुराद और गुलशन ने न कुछ देखा, न सुना।

× × ×

दीन दुनिया के बादशाह, हिन्दुस्तान के मालिक शाहजहां, अपने कमरे में खड़े थे।

गुस्से से आंखें लाल किये होंठों को काट रहे थे।

हिन्दुस्तान का शाहजादा और एक नाचीज बांदी !...शाहन्शाह का खून खौल रहा था।

लेकिन—सब काम खामोशी से !

सामने एक आबनूस से काले, देव से तगड़े, मनुष्य ने आकर कोर्निश की।

यह था माशरू,—बादशाह का ख़ास आदमी, नमकहलाल !

पांच मिनिट तक समझाने के बाद माशरू को भेजा जा रहा था।

शाहजहां कह रहे थे—"देखना किसी को कानों कान खबर न हो, वरना···!"

माशरू ज़मीन तक झुक गया।

अकेले शाहजहां देर तक टहलते रहे।

चांदनी अब भी खिल रही थी। वैसी ही सुन्दर, वैसी ही मोहक।

× × ×

तीन दिन सपने में कट गये।

ऐसे तीन दिन मुराद ने कभी न काटे थे,—न गुलशन ने।

एक दूसरे में डूबे हुए, मतवाले होकर, दीवाने होकर !···

मुराद को कुछ ताज्जुब भी था। ऐसा तो नामुमकिन था कि बादशाह को खबर न हुई हो। मगर बादशाह तो वैसे ही खुश नजर आते थे।

शायद इस्लाम तो कोई फर्क मानता नहीं बड़े छोटे में।···मुराद मन ही मन खुश हो लेता।

रात का वक्त था।

शराब की सुराही, गुलशन और बांदियां।

गुलशन नाच रही थी—तेज, पागल बनाने वाला नाच !

हृदय की प्रसन्नता मानो उमड़ी पड़ती थी।

मुराद खुश था, बेहद खुश !

नाच खतम हुआ। गुलशन ने झुक कर कहा, "बांदी का इनाम हुजूर !"

"इनाम !" मुराद ने हंस कर कहा, "मेरे हाथों से शराब का प्याला !"

गुलशन ने सिर झुका लिया।

तब एक बांदी उठी। एक बार उन दोनों को देखा, फिर उठ कर शराब गिलास में डाल कर ले आई।

मुराद ने प्याला ले लिया।

बाँदी का हाथ कुछ कांपा था। जाने क्यों ?'' गुलशन ने मुराद के गले में दोनों बाहें डाल दीं।

अभी प्याला आधा ही पिया था कि मुराद ने कहा—"मुझे भी, गुलशन !"

शराब लाने वाली बाँदी का खून जमने को आ गया !

"नहीं, मालिक मेरे, यह तो मेरा इनाम है !" कहते हुए गुलशन ने प्याला खाली कर दिया।

कुछ सन्नाटा-सा छा गया।

चाँदनी भी कुछ काली सी पड़ गई।

मुराद ने कहा, "मेरी गुलशन !"

पर गुलशन कांपी।

"क्यों ?" शाहजादे ने पूछा।

"बदन में आग सी लग रही है प्यारे !" गुलशन ने बेचैनी से कहा।

महल में भाग दौड़ पड़ गई।

एक घण्टा बीता।

गुलशन लेटी थी। काले होंठ, दर्द से भरी आंखें, जिनके नीचे गड्ढे !

मुराद सोच रहा था, यह हो क्या गया ? हकीम साहब मर्ज़ की तखशीस ही नहीं कर सके।

क्यों ? यह कौन जाने !

"हाय ! शाहज़ादा !···"

गुलशन ने इशारे से मुराद को बुलाया।

"प्यारे !" उसने हिचकी लेते हुए कहा, "मैं चलती हूँ। बड़े अरमान थे, एक भी पूरा न कर सकी। तुम्हारी खिदमत···"

"नहीं, नहीं, गुलशन !" मुराद ने भरे गले से कहा।

और झुक कर उसने गुलशन के ठण्डे होंठ चूम लिये।

"मालिक मेरे !" गुलशन कह रही थी, कष्ट से पीड़ा से—"तुम खुश रहना। कभी कभी गुलशन की···।"

मुराद का धैर्य टूट गया। बच्चों की तरह रोने लगा।

"पर तुम्हें हुआ क्या ?" उसने अटकते हुए पूछा।

गुलशन मुस्कराई। हल्की-सी, मतलब भरी वह मुस्कराहट थी।

"प्यारे, एक वादा करो। करोगे ?" उसने आग्रह से कहा।

"कहो गुलशन !"

"तुम कभी शराब न पियोगे !"

मुराद ने वादा किया।

और गुलशन अपनी मुस्कराहट समेत चली गई।

पर विधाता फिर भी क्रूर हँसी हंस रहा था। उसका विधान तो अमिट था। औरंगजेब को बादशाह होना था।

× × ×

मुराद शराब नहीं छोड़ सका—नहीं छोड़ सका। गुलशन की याद में ग़म ग़लत को !

———

किनारी

नरगिस ने साड़ी का पल्ला सिर पर रख, सामने आइने में निगाह डाली और देख कर दंग रह गई। चौड़े पाड़ का सुनहरी फूलदार डिजाइन, उसमें से झांकते सुनहरी बाल और गोरा-गोरा मुख ! नरगिस के मन में आया, मानो सचमुच ही किसी सुन्दर मूर्ति के चारों ओर सुनहरा प्रकाश जगमगा रहा हो। जैसे देवताओं की तस्वीरों में होता है...

नरगिस बड़ी सुन्दर थी। और वह जानती भी थी कि वह सुन्दर है, और उसकी सुन्दरता ही उसका धन है।

उसने साड़ी को ठीक करते हुए सोचा कि इस सुनहरी किनारी ने तो कमाल ही कर दिया है। पुरानी साड़ी को एकदम नया कर दिया।

बात यह थी कि नरगिस के पास नई साड़ी थी नहीं, और आज उसे नई साड़ी की, बड़ी बढ़िया-सी की, बड़ी जरूरत थी।

'वह' आनेवाले जो थे ! वह यानी मोहनलाल। नरगिस असल में वह थी, जो नारी को न होना चाहिये ; जो नारी का सबसे बड़ा अपमान है। जी हां, वही जो नारीत्व का मूल्य लगाती है।

उस मुहल्ले में नरगिस जैसी न जाने कितनी थीं। सैकड़ों ही होंगी। नरगिस उन सैकड़ों में से एक थी। और वह खूब जानती थी कि उनमें से वह अनेक से सुन्दर है और अनेक से बुरी।

साथ ही नरगिस अपना असली मूल्य भी जानती थी। अपने यहां आनेवालों की जुबान पर खेलते मीठे शब्दों के पीछे छिपी असत्यता को वह समझती और समझकर कभी-कभी तो उसका जी चाहता था कि कहने वाले का या अपना सिर पीट ले।

तांगे में सिनेमा जायँगे तो उसको, जानोजिगर कहने-वाले अलग

तांगे में बैठकर...घर आयँगे तो छिप कर, घर-वालियों से झूठ बोल कर ....

पर हां, बात तो यह थी कि नरगिस के पास कोई बहुत बढ़िया साड़ी न थी, यानी ऐसी कि जिसे पहिन कर वह मोहनलाल को रिझा सके। वह चाहती थी कि मोहनलाल उस पर मर मिटें। इस कामना के पीछे नारी-सुलभ प्रवृत्ति भी थी और नरगिस के अपने मन की कमज़ोरी भी।

मोहनलाल उसे पसन्द थे। जवान आदमी, सुन्दर, पढ़े-लिखे कालेज के विद्यार्थी। वह चाहती थी कि आज, मोहनलाल उसे देखकर पागल हो जायं। इसीलिये तो न जाने कितनी जगह सिर मारकर वह यह चमकदार किनारी लाई थी। जम्पर और साड़ी पर एक-सा बार्डर लगाया था। साथ ही चेष्टा यह भी थी कि उनमें से उसका यौवन कुछ-कुछ यों ही-सा झलके भी—

उसने आईने में देखा सब ठीक था।

मोहनलाल को अपने यहां बुलाने में उसे विशेष कष्ट हुआ हो, ऐसा भी नहीं था। बड़ी आसानी से आने को तैयार हो गये थे। पहले दो-एक बार आये थे, या यों ही अनमने से, चुपचाप। मगर नरगिस तो जानती थी कि उसका जादू सब पर ही चल सकता था।

और मोहनलाल पर वह यह जादू चलाना ही चाहती थी। कारण यह कि मोहनलाल उसकी बात का जवाब भर दे देते थे और बस। अपनी तरफ़ से कभी कोई बात नहीं, कोई चर्चा नहीं। नरगिस बोली तो हां या न कर दिया, नहीं तो कोई काम नहीं।

पहले तो नरगिस ने समझा, शायद इसके पीछे घमंड या कुछ अहंभाव हो, पर फिर समझी कि यह न वह था, न कुछ और। शायद यह एक प्रकार का अविश्वास-सा था। नरगिस उसी अविश्वास को तोड़ देना चाहती थी, विश्वास दिला कर नहीं, वरन् रूप दिखा कर, चकाचौंध करके।

नरगिस को याद आया कि चार आदमियों के सामने उसने कितने प्रकार से मोहनलाल से बात करनी चाही थी, पर वे थे कि गुमसुम।

नरगिस अब एकदम तैयार थी। दिप-दिप करती किनारी उसके गालों को छूकर और भी दिप रही थी। उसकी झिलमिलाती टांगों पर अलबेट खाई हुई सुनहरी किनारी मानो चंदन से लिपटा सुनहरा सांप थी।

नरगिस मुस्करा दी। आज मोहन बाबू को वश में करना ही होगा। नौकर से पहले ही कह दिया था कि घर में जब मोहन हों, और कोई न आने पाये···।

पर क्या सचमुच मोहनलाल को परास्त करना मात्र ही नरगिस चाहती थी? नरगिस को स्वयं यह कह देना कठिन था। नारी के मन को नारी भी नहीं जानती! वह नहीं कह सकती थी कि मोहनलाल को परास्त करके वह प्रसन्न होगी या परास्त हो कर।

आज नरगिस हारेगी नहीं आज तो नरगिस जीतेगी। इस सुनहरी किनारी ने कमाल कर रखा था। और तब उन्हें हराकर नरगिस मुस्करा कर कहेगी कि उसकी एक किनारी ने उन्हें हरा दिया!

सहसा जीने में आहट हुई। नरगिस ने एक निगाह आइने पर डाली, साड़ी को ज़रा ठीक किया और तैयार हो गई।

मोहनलाल आ ही गये थे।

सचमुच ही नरगिस को देखकर वे धक्-से रह गये।

उन्होंने देखा आसमानी-सी साड़ी में झिलमिलाता नरगिस का यौवन ठीक मानो जल की तरंगों में खोया, उतराता-सा फूल हो, और फिर उस सबको बांधे, लपेटे वह सुनहरी किनारी!

"आइये!" नरगिस ने कहा।

मोहनलाल संयत भाव से बैठ गये, कुछ मुस्कराते हुए।

"बड़ी सुन्दर किनारी है!" उन्होंने कहा।

नरगिस को चोट-सी लगी।

"और मैं नहीं ?" उसने कृत्रिम मुस्कराहट से पूछा।

"वाह, क्यों नहीं ? आप···आप तो सुन्दर हैं ही।" मोहनलाल ने भूल सुधारते हुए कहा।

बात कुछ बनी नहीं। पर नरगिस सन्तुष्ट हो गई और सन्तुष्ट होकर उनके पास ही बैठ गई।

अब दोनों चुप। मोहनलाल सोच रहे थे, नरगिस कितनी सुन्दर है और कितने पास। साड़ी से उनका कोट छू रहा था। उनके मन में न जाने कैसी धड़कन हो रही थी।

नारी का सम्मोहन उनको कंपाये डाल रहा था। मन में धीरे-धीरे नरगिस का रूप भरता जा रहा था। उन्होंने निगाह नीची किये ही देखा, सुनहरी किनारी ज़रा हिली और उनके और भी पास बिलकुल पैर पर बल खाती पड़ रही थी।

नरगिस जीत रही थी उसके मुख पर मुस्कान थी, विजय की। वह मोहनलाल के और भी पास हो गई।

मोहनलाल के गाल के पास गर्म-गर्म सांस जा रही थी। बराबर में नरगिस के सीने पर पड़ी सुनहरी किनारी हिल रही थी।

उन्होंने आंख उठाकर देखा, नरगिस उन्हें एकटक देख रही थी। गले में पड़ी साड़ी की सुनहरी किनारी में उसका सुन्दर मुख उन्हें लगा, मानो सोने के पात्र में दिया जल रहा हो!

पर वह चुप्पी कब तक चले ? उन्हें कुछ कहना चाहिये ? क्या—क्या ?

"यह साड़ी नई-सी जान पड़ती है ?" उन्होंने फंसे गले से पूछा।

नरगिस ने उनके एकदम पास होकर कहा—नहीं, "यह तो पुरानी है। खाली किनारी नई है।"

एकबारगी मानो मोहनलाल का मन ठंडा-सा पड़ गया। साड़ी का पुराना होना मानो किसी अज्ञात प्रकार से उनके पागल होते मन पर

एक घड़ा पानी डाल गया हो ! वे क्या करने जा रहे थे, सोच कर वे सिहर उठे।

देखा, नरगिस अपनी उसी पुरानी साड़ी में उन्हें देख रही है, सहमी आंखों से। शायद वह भी नहीं समझ पा रही थी कि यह क्या हो गया ?

"अच्छा, फिर आऊंगा ? कह कर वे एकाएक चल दिये।

नरगिस हैरान थी कि बात क्या हो गई। अकेले बैठे-बैठे उसने न जाने कितनी देर सोचा कि ऐसी कौन-सी बात थी कि उसका जादू बेकार हो गया था।

मोहनलाल फिर न आये। जब आने की सोचते तभी न जाने पुरानी साड़ी पर नई किनारी की बात उनके नरगिस के पास आने के जोश को ठंडा कर देती।

वह सुनहरा प्रभात

एना पावलोवा नाजी जर्मनी की गुप्तचर थी। उसकी बड़ी-बड़ी कटीली आंखें, कुछ तिरछी-सी उन सुन्दर पलकों के अन्दर से झांक कर एक विलक्षण सम्मोहन रखती थीं।

सर पर उसके सुनहरे बाल—मानो गला हुआ सोना लहरें मार रहा हो।

और, हृदय के स्थान पर तो एना कहा करती थी, कि उसके केवल यंत्र-मात्र था जो मस्तिष्क के आज्ञानुसार कार्य करता था।

उस दिन सुबह एना ने खिड़की खोलकर अलसाई आँखों से बाहर देखा। बर्लिन सुनहरी धूप में सोकर जाग रहा था। दूर-दूर तक विशाल, जंगल से फैले, मकान थे।

दूर एक विशालकाय स्वस्तिका चमक रहा था।

एना पावलोवा पूर्णतया सन्तुष्ट थी। जीवन से, अपनी जवानी से।

सहसा टेलीफोन की घंटी बजी।

एक बार माथे में बल डाल कर, अपनी बिखरी लटों को झटके से हटा कर, एना फोन की ओर मुड़ी।

दूसरे ही क्षण, वह गम्भीर, एकाग्र थी। टेलीफोन रखकर जल्दी से काफी पीकर, एना चल दी।

टेलीफोन में उसे गुप्तचर विभाग के वैदेशिक अफसर से मिलने को कहा गया था। तुरन्त ही।

× × × ×

बीस मिनट बाद—

एना दफ्तर में थी।

अफसर एक साफ, सुथरा-सा, घुटे सर वाला कर्नल था। बाँह पर स्वस्तिका लगा था।

मूछें ऐसी नुकीली थीं मानो अलग से बना कर लगा दी गई हों।

"हमें ठीक तौर से यह पता लगाना है कि पौलैण्ड पर चढ़ाई करने पर, इंगलैंड और फ्रांस लड़ेंगे या नहीं।"

एना चुप सुनती रही।

कर्नल ने एक मिनट ठहर कर, एक कागज निकाला। उसे एक बार देख कर बोला—

"आज के चौथे दिन इङ्गलैंड के वैदेशिक विभाग के मिस्टर एक्स (X) अपनी सरकार का फैसला लेकर वारसा जाएँगे। तुम्हें उसे हथियाना·····कम से कम पढ़ना अवश्य होगा।"

एना ने 'हेल हिटलर' कहने को हाथ उठाया था कि रुक गई।

कर्नल ने मुस्करा कर कहा, "एक्स बहुत सुन्दर युवक है, साथ ही मनचला भी है, इसलिए तुम·····।"

एना सीधी इंगलैंड न गई। वह फ्रांस होकर गई। किसी भी शक को मिटाने के लिए।

× × ×

इंगलैंड में चौथे दिन—

नम्बर दस, डाउनिंगस्ट्रीट में प्रधान और वैदेशिक मन्त्री बैठे थे।

सामने खड़े थे मिस्टर एक्स।

उन्हें देखकर यह कहने में कोई भी संकोच न हो सकता था कि नाजी गुप्तचरों के अध्यक्ष ने उन्हें सुन्दर बताने में तनिक भी अत्युक्ति से काम न लिया था।

वह सचमुच ही सुन्दर युवक था।

माननीय प्रधान मन्त्री ने कहा:—

"एक्स, तुमको यह कागज वारसा पहुँचाना है। साथ ही मैं यह भी बता दूँ कि इसमें क्या लिखा है यह जानने के लिए कई

सरकारें सब कुछ करने को तैयार होंगी। तुम्हें बड़ा सतर्क रहना पड़ेगा।

एक्स ने सर झुकाया।

प्रधान मन्त्री ने एक बार अपने सहयोगी की ओर देख कर कहा :—

"ऐसी राय हुई है कि तुम हालैंड और बेल्जियम होते हुए जाओ। साधारणतया शीघ्रता ही करना। एक यात्री की भाँति। कहीं····· काम बड़ी जिम्मेदारी का है।

"बस अब तुम·····"

× × ×

मिस्टर एक्स गाड़ी में बैठे थे। उन्होंने खूब ध्यान से देख लिया था। कहीं भी कोई भी तो ऐसा मनुष्य न दिखाई देता था जिससे सतर्क रहा जाए।

गुप्तचर होने के कारण वह भी तो विशेष तीक्ष्ण दृष्टि रखते थे।

ऐसे समय वे बड़े आराम से अखबार पढ़ रहे थे। सामान सब का सब ऐसा था जैसा किसी भी महाद्वीप के यात्री का होता है।

गाड़ी ने सीटी दी और·····एक्स ने एक निगाह चारों ओर डालकर एक लम्बी साँस ली।

दूसरे ही क्षण दरवाजा खुला और एक युवती डिब्बे में घुसने लगी। पर उसके हाथ में पुलिन्दा बहुत बड़ा था, दरवाजे में न आ रहा था। युवती बड़ी मुश्किल में।

कहीं गिर न पड़े।

एक्स ने झपट कर पुलिन्दा थाम लिया।

युवती सीट पर बैठकर हाँफने लगी। उसकी ओर देखकर उसने मुस्कुरा भर दिया, कृतज्ञता से।

एक्स ने देखा युवती अपूर्व सुन्दरी थी।

वह एना पावलोवा थी।

ऐसी सुन्दर मुलाकात के बाद वे दोनों थोड़ी ही देर में घुल-मिल गये।

एना अंग्रेजी बिलकुल ही अंग्रेज़ों जैसी बोलती थी।

नाम बताया मेरियन टैम्पिल।

कार्यपटु एना ने थोड़ी ही देर में एक्स को पूर्णतया मुग्ध कर लिया।

और एक्स'''वह तो मानो इस अनुपम रमणीरत्न पर जान दे सकता था।

× × × ×

एम्सटर्डम पहुंचते-पहुँचते एक्स ने देखा मानो एना टेम्पिल —के मन पर कुछ बोझ-सा था। वह रह-रह कर उसकी ओर ध्यान से देखने लग जाती थी।

न जाने क्यों ?

एक्स कुछ समझ न रहा था।

शाम को होटल में खाने के बाद दोनों ही अपनी खिड़की में आ बैठे। सामने चाँदनी खिल रही थी। एम्सटम हुसे भी एक सुनहरा प्रकाश उठकर चाँद से मिल जाना चाहता था।

एना चुप थी। अनमनी होकर मानो किसी गूढ़ समस्या में मग्न थी।

एक बार उसने मुड़ कर देखा एक्स को।

वह उसकी ओर एकटक देख रहा था—उसके सुनहरे बालों में चाँदनी कैसी सुन्दर लग रही थी।

सहसा ही दोनों के हाथ मिल गए।

"आप वारसा क्यों जा रहे हैं ?" एना ने पूछा, धीरे से।

एक्स उसे अब तक यह तो बता ही चुका था। एक्स धीरे से हँसा। कैसी सीधी थी यह मेरियन भी।

यदि कहीं वह जान पाये तो···कैसी चकरायगी वह ! इस बेचारी के सीधे-साधे अंग्रेज़ी जीवन की यह सबसे बड़ी घटना होगी। और, शायद···

"मैं वारसा कुछ कागज ले जा रहा हूँ।"

एना अपना पार्ट पूर्णतया कर गई। उसने चौंक कर अचरज से पूछा—"कागज, कैसा कागज ?"

एक्स इस सुन्दर युवती के आश्चर्य का पूर्ण आनन्द उठा रहा था।

"मैं गुप्तचर हूँ। सरकारी। वारसा को·····।"

एना चुपचाप सुनती रही "देखो," एक्स कहता गया, "कागज यह है।"

पर, शायद शराब, और चाँदनी के नशे में भी होश था। हैट पर हाथ लगाते-लगाते वह रुक गया।

एना उसे अपलक देख रही थी। एक विचित्र भाव से।

धीरे से उसने कहा—"एक बात बताऊँ ?"

"क्या ?" एक्स ने सहमे से कहा।

"मैं भी गुप्तचर हूँ, जर्मनी की।"

एक्स चौंक कर उठने लगा। एना ने हाथ पकड़कर उसे रोक लिया।

"मुझे तुमसे कागज चुराने का काम दिया गया था, पर···मैं न··· सुनो, उसने सहसा बहुत धीरे से कहा, "तुम अभी वारसा चले जाओ नहीं तो·····।"

एक्स का सर चकरा रहा था।

"पर, पर" उसने अटकते हुए कहा, "तुमने मुझे—यह क्यों बतलाया ? कागज चुराया क्यों नहीं ?

एना चुप !

एक्स ने देखा कुछ क्षण तक उसे, फिर सहसा ही कुछ समझा।

"ओह !" उसने कहा और झुक कर एना को चूम लिया।

"अब जाओ," एना ने गिरी-सी हो कर कहा।

"पर—तुम·····तुम···?

एना मुस्कराई।

"मैं तुम्हें ब्रिटेन में मिलूंगी।"

एक्स चला गया। प्रसन्न·····

"लौटते ही हम दोनों रजिस्ट्रार के यहां चलेंगे।" उसने अपनी अंगूठी एना को पहिनाते हुए कहा।

पर एना इंगलैंड न लौट सकी।

रास्ते में ही, जर्मनी से तार द्वारा वारंट पर वह पकड़वा मंगाई गई।

और, तब एक, सुबह को···एना फांसी की ओर लेजाई गई।

गेस्टापो सब कुछ जान सकता है, अपने चरों के विषय में।

सामने सूर्य निकल कर सोना बरसा रहा था। एना मुस्करा रही थी उस पीली अंगूठी को चूम कर···जल्लाद ने फन्दा डाल दिया।

एक्स अभी है—जर्मनी के नाजीवाद का कट्टर शत्रु। सदा ही रहेगा, ऐसा जान पड़ता है।

तांबे के वे टुकड़े

देहली पहले न देखी थी। नए शहर में आकर घूमने का शौक होता ही है। इसीलिए कपड़े पहन कर मैं भी चल निकला।

जिधर मुंह उठे, उधर ही को।

उस सैर में क्या देखा—कुतुब की लाट, लाल किला, लाट साहब का महल, चांदनी चौक? हाँ, सब कुछ, और इन सबके पीछे छिपा वह गोल-गोल—पैसा।

आप भी सुनियेगा?

घर से निकलते ही देखा, पड़ोस के साहब बिगड़ रहे हैं। उनके सामने एक जरा-सा बालक, जिसे स्कूल में होना चाहिए था, हाथ में झल्ली लिए खड़ा है।

"दूर ही कौन है?...सब्जीमण्डी से यहाँ तक के दो पैसे कम हैं?

झल्ली में तरकारी भरी थी।

सब्जी मण्डी से...कम से कम दो मील तो होगी!

और उस दो मील उस बोझ को ढोने की मजदूरी थी—दो पैसे!

अगर मुझसे कहा जाता कि उस झल्ली को दो मील ले चलो, तो शायद मैं न ले जा सकता था।

पर, मुझे तो न ले जानी थी। मैं आगे बढ़ गया।

उस अथाह जन-राशि के बीच बढ़ा चला जा रहा था। एकदम एकाकी, मानो निर्जन घने वन में।

न जाने बड़े शहर में मुझे ऐसी भावना क्यों होती है! मैं उसमें खोया-सा, एक बहते क्षुद्र तिनके समान प्रतीत करता हूं...बड़े-बड़े भीमकाय मकान मानो मुझ पर टूट पड़ेंगे...ट्राम मानो मुझे चूर-चूर कर देने को दौड़ी आ रही है।

सभी भागे चले जा रहे थे । कहां जाना है सबको ? किसकी खोज है ?

सामने ही मेरीना होटल था चकाचक प्रकाश, बैंड, हरे-हरे लान ।

बाहर फुटपाथ पर दफ्तर से लौट कर आते बाबू चले जा रहे थे । एक प्रकार बोझ से लदे-से, झुके कन्धे, थका-सा मुख ।

दिन भर, कलम घिसाई करने पर, तीस दिन बाद, कहीं पेट में रोटी डालने योग्य पैसे मिल पाते हैं ।

यही तो है हमारी आज कल की सभ्यता । लाट साहब के ऊंचे विशालकाय दैत्य के समान दफ्तर में दबे-से, काम में लगे, यह चींटियों के सदृश्य मानव ।

वहीं इस भीड़भाड़ में कुछ भिखमंगे भी थे । फटे कपड़े, जर्जरित तन, लूले-लंगड़े···"दाता का भला हो" की सदा लगानेवाले ।

जी ऊब गया । न जाने कैसा-सा लगने लगा ।

लौटकर···तांगे वाले को पैसे देकर फिर पुरानी दिल्ली चला आया ।

शाम हो गई थी । बाजार में अनगिनत बिजलियां जल रही थीं ।

चहल-पहल...शोर भीड़ ।

उस भीड़ में देखा, एक कपड़ों से ढकी-ढकायी नारी मूर्ति को ।

मैली-सी ।

पास आकर उसने कहा—

"बाबूजी, कुछ दीजियेगा । भगवान् भला करेंगे ।"

मैं आगे बढ़ गया ।

सहसा ही उसने घूंघट उलट दिया ।

न जाने कैसी-कैसी भावनायें आंखों में भरकर उसने कहा, बाबूजी···!"

मैंने अकचका कर देखा—वह युवती थी, पीली, रोहिणी-सी

ओह ! और उस मुख पर एक बनी-बनायी मुस्कराहट···भद्दी-सी···उसने जड़ ली थी ।

मैं कांप उठा।

जल्दी से पैसा उसके हाथ पर रखकर चल दिया। मुड़कर देख भी न सका कि वह क्या कह या कर रही थी।

अब क्या करूं ? कहां जाऊं ? यह भीषण शहर न जाने कहां तक फैला था ?

मेरी भौचक्की-सी आंखों ने या मेरे नये होने ने ही शायद एक मनुष्य ने, जो आस-पास ही मंडरा रहा था, मुझसे बोलने का साहस किया।

मैंने कहा बाबूजी···" उसने कहा।

मैंने उधर ध्यान दिया।

मैले कपड़े पहने, वह दुबला-पतला मनुष्य, एक अजीब प्रकार से मुझे देख रहा था।

"कहीं चलियेगा ?" उसने पूछा।

कहां ?" मैंने आश्चर्य से पूछा।

वह हंस पड़ा—वही सड़ी-सी हंसी।

"मैंने कहा, कहीं भी सैर को।"

सैर को ! कहां ?

उसके कुछ कहते-कहते मैंने सोचा, चलो भी हर्ज ही क्या है। कहीं न कहीं तो चलना ही है इसके साथ जाने में ही क्या हर्ज है।

मैं चल दिया।

न जाने कहां-कहां की गलियों को पारकर घूमते-घामते हम चले जा रहे थे।

एक गली में···

अब क्या कहूँ ? मैंने वहां देखा, एक स्त्री चिल्लाकर कुछ कह रही थी।

पैसे कम मिले थे। वह कुछ आदमियों की भीड़—उन शुष्क, मानव-कङ्कालों की—उसे देख रही थी।

ओह ! मेरा जी मतलाने लगा।
मुड़कर मैं चल दिया, भागकर।
सीधा, न जाने कैसे, सड़कपर दम लिया।
सामने ट्राम थी।
उसमें बैठ कर कुछ जान में जान आयी।
अघाकर सांस ली—कि कण्डक्टर सामने आ पहुँचा।
उसे दिये—वही पैसे···
और, और···ट्राम दौड़ने लगी।

———

मेंह की बूँदें

किसान आँख फाड़-फाड़कर आकाश को देखते और एक साँस लेकर रह जाते थे।

एक दम स्वच्छ, नीला अम्बर—जहां तक आँख जाये वहां तक—फैला था। कहीं भी तो एक टुकड़ा बादल का नहीं दिखाई देता था।

ठण्डी, तीखी हवा चला करती थी। एकदम सूखी, तीर-सी।

दिसम्बर का महीना था।

सारी आशा बरसात पर ही थी। यदि दो छींटें भी पड़ जाते तो···पर भगवान् तो मानो सो से रहे थे।

रोज़ ही मानताएँ मानी जाती थीं। महावीरजी को लड्डू बोले जा चुके थे। पण्डितों का पत्रा भी व्यर्थ-सा जान पड़ता था।

बरसात तो सूखी गई ही थी, यदि जाड़ा भी सूखा ही गया तो··· ओह! किसान काँप उठते थे।

लगान! महाजन!

सहालग आ रहे थे, पर ऐसे में किसका बूता था जो ब्याह कर सकता।

शर्बती रोज़ ही तो देखती थी उस पीली धूप को। सोने-सी सुन्दर, पर कैसी कठोर।

उसकी सगाई तो हो चुकी थी। ब्याह भी इसी सहालग में हो जाता, पर अब तो···उसे खीझ होती थी धूप पर, बादलों पर, मां-बाप पर···ब्याह पर भी।

वह ब्याह से अप्रसन्न हो सो बात नहीं थी। किन्तु सहेलियों से सुनते-सुनते, ससुराल की और दूल्हे की चर्चा में उसे उत्सुकता, अज्ञात आनन्द-सा होने लगा था।

वह भी बहू बनकर जायगी। गहने पहनकर, घूंघट में लिपटकर।

वहां ससुराल में जब 'वह' उससे कहेंगे...अरे! पर वह उनसे बात कैसे करेगी? लाज के मारे उससे बोला ही न जायगा।

पर अब तो शायद यह सब न हो सकेगा। मेंह न होने से फ़सल भी न होगी। उसके न होने से क़र्ज़ा भी तो न मिल सकेगा। महाजन देगा ही क्यों?

बूढ़े माँ-बाप भी चिन्ता में मरे जाते थे। पर, लाचारी थी। दैव के आगे बस ही किसका था।

घर में दिन-भर यही चर्चा होती रहती थी। मां कहती—बनिए से मिले थे?

बाप हुक्के के दो कश लगाकर उत्तर देता।

'अरी, तो जाऊं भी किस बूते पर?'

फिर चुप्पी।

चौपाल में चर्चा होती—

इस बार क्या होगा? दोनों फ़सल बिगड़ी जा रही थीं। चौधरी की घरवाली को तीर्थ की पड़ी थी तो नम्बरदार के बेटे की बहू कड़ों पर जान देती थी।

पर, सब ही को सब्र करना पड़ रहा था। घरों में उदासी-सी, सूना-सा रहता था।

हवा भीगी-सी हो गई। पर एक दिन, यह उदासी उचटी। सहसा बादलों की गरज और बारिश ने सारा गाँव जगा दिया।

लोग उठे बाहर चले आये।

सच ही मेंह बरस रहा था।

घने अन्धकार में किसानों के हृदय हंस रहे थे।

झोंपड़ियाँ चू रही थीं, पर किसानों का दल मग्न खेतों की ओर चला जा रहा था।

शर्बती उमग रही थी, वेग से पड़ती बूंदों और घनी घटा को देखकर।

× × ×

लालाजी एकटक बैठे शून्य-दृष्टि से आकाश को देख रहे थे।

घटा चली आ रही थी! उमड़ उमड़कर। मानों सावन-भादों हो रहा था।

उन बादलों की तरह उनका हृदय भी तो रो रहा था। न जाने यह झड़ी कब बन्द होगी। और, अब हुई भी तो क्या?

अन्दर से छोटे-से बच्चे ने, लाला के अकेले पुत्र ने, आकर कहा:—

'चाचा, एक पैसा दे दो।'

'क्या? लाला ने अपने भारी शरीर को बिना हिलाये ही कहा।

'एक पैसा। हम ढेर-सा क़ागज मंगायेंगे। फिर नाव बना कर...।

'चल, अन्दर जा, भाग।' लालाजी ने झिड़क कर कहा—

बच्चा रोता हुआ चला गया।

थोड़ी देर में लालाजी उठे, एक लम्बी साँस फेंक कर, अन्दर की ओर चले।

खाना तो खाना ही था।

अन्दर पहुँचकर सहसा वह रुक गये।

हृदय में धक्का-सा लगा।

सेठानीजी चौके में बैठी कढ़ाई में पकौड़ियाँ बना रही थीं।

हाँ।' उन्होंने हुलसे स्वर में कहा—गर्मागर्म आकर खा लो।

'यह सब क्या कर रही हो?'

'वाह।' सेठानीजी ने कहा—बरसात में तो आनन्द ही पकौड़ियों का है।

लाला चुपचाप बाहर लौट गये।

बाहर सड़क पर पानी बह रहा था। जहां-तहां, बच्चे हंस रहे थे। उस सर्दी में, घरों की खिड़कियों में।

पर, उनका हृदय रो रहा था। सेठनी ने महंगी का सौदा किया हुआ था।

न जाने मेंह क्यों बरस रहा था।

मैं रेनप्रूफ से लिपटा हुआ लाइब्रेरी पहुँचा। आखिरी सर्दी और बरसात के दिनों में किया भी क्या जाय। इसीलिए मन ही मन कांपता हुआ सर्दी का सामना करता हुआ, लाइब्रेरी पहुँच ही गया।

लाइब्रेरी थी, टाउनहाल में।

देखा बरामदे में दस-पांच आदमी खड़े थे!

मैं चकरा गया। ऐसी सर्दी में लोग बाहर बरामदे की ठण्ड का सामना क्यों कर रहे थे।

देखा—

ओह!

एक औरत, भिखमंगिन, बेहोश पड़ी थी। उसकी गोद में एक नन्हा-सा बच्चा था, मुर्दा, अकड़ा-सा।

टाउनहाल में शहर के बे घर-बारों को सोने के लिए सर पर छाया तो मिल जाती है।

मैं दंग-सा रह गया। कुछ अजीब-अजीब-सा लगने लगा। सब कुछ असत्य-सा।

म्यूनिसिपालिटी की गाड़ी में उसे डालकर लोग ले जा रहे थे।

मेरे पास ही एक भद्र-पुरुष कह रहे थे:—

'सर्दी ही बहुत है, साहब। मा भी क्या बचेगी।'

उन्होंने और मैंने चेस्टर का कालर तक बन्द कर रखा था।

चमड़े के दस्ताने···सिगरेट

मैंने सामने देखा—मेंह निर्विकार रूप से बरसे चला जा रहा था।

मैं अच्छा उपन्यास न ढूंढ़ सका उस दिन।

———

"अब रहा कहाँ अधिकार···"

रानी !

तुम्हारा पत्र मिला। तुम्हारा फोटो भी उसमें था। देखा ! सच कह दूँ, यदि बुरा न मानो तो, मुझे तो वह कुछ जंचा नहीं। तुम्हारी आंखों के नीचे जो सुन्दर झाईं पड़ती है, वह उसमें बड़ा भद्दा-सा आया है।

हां, मेरी समझ में न आया कि तुमने फोटो भेजा ही क्यों ? क्या जरूरत थी ? आज तुम में और मुझ में जो उन्मत्त सागर से भी अधिक भीषण अड़चन है, उसे क्या यह कागज का टुकड़ा मिटा सकेगा ?

याद है, वह कविता की पंक्ति ? वहीं, उस दिन दोपहर को जब तुमने न जाने किस-किस बहाने से शिव जी की पूजा करने से मना कर दिया था। सर में दर्द, बुखार, जी भारी और भी न जाने क्या-क्या कहा था। मेरे पूछने पर तुमने हाँ, तुमने अखबार खोलकर चुपके से वह लाइन दिखा दी थी। याद है ? अब रहा कहाँ अधिकार, सखी तो है राजा की रानी।

तुम तब तक रानी तो न बनी थीं। तुम और मैं दोनों ही तो भूल गये थे कि रानी अपने मन से नहीं बन सकती। सब लोग जिसे चाहते हैं, बिना उसकी मर्जी के भी, ढिंढोरा पीट कर उसे रानी बना देते हैं।

और तब ? तब उसका धर्म हो जाता है राजा की होकर रहना। ऐसा ही संसार का नियम है। हम दोनों ही समझते थे कि बस स्वयं ही रानी बनने से काम हो जाता है।

समझ आई, बाद में। पर, तब तक·····

अरे हाँ, उस दिन फेरों से पहिले, अपने और मेरे बीच में पहाड़ बनाने से पहिले, तुमने कैसी बेवकूफी की थी।

वह फूल सामने डाल कर···तुम···और जब मैं आगे बढ़े थे, दूसरी और अंतिम बार तुम्हें···तुमने जरा-सा मुस्करा कर, आंसुओं से भरी आंखों से देख कर कहा था—अब रहा कहाँ अधिकार···।

ठीक वही तो मैं भी कहता हूं कि अब अधिकार नहीं रहा है। अब तुम सचमुच की रानी हो। बाजे-गाजे से, चीख-पुकार कर, तुम रानी बनाई गई हो। तुम्हारे राजा हैं। तुम उनकी हो, वे तुम्हारे हैं...।

फिर यह फोटो क्यों? साथ ही यह आज्ञा भी, क्योंकि मैं भी अपना फोटो आपको भेज दूँ। फायदा ही क्या है अब इस बात का?

अच्छा तुमने कभी सोचा है कि राजा को रानी और रानी को राजा छाँट लेने का अधिकार क्यों नहीं है? न जाने क्यों ऐसी ज्यादती की गई है उन पर!·· मेरे सामने पूसी बैठी एक मन से अपने ओठ चाट रही है और मुझे लिखते देख रही है। तुम्हें पूसी की याद तो होगी न? या रानी बनने के बाद···न, न, जाने भी दो।

अब पूसी भी अपना राजा ले आई है। बड़ा मोटा-ताजा, भयानक-सा है वह। न जाने उसे कैसे पसन्द आ गया है? जब तब वह उसपर गुर्राया भी करता है।

क्या मालूम इस बेचारी को भी अपनी राय के बिना ही राजा स्वीकार करना पड़ा हो। वास्तव में हम लोगों को इन जानवरों के विषय में, इनके नियम, कानून के बारे में मालूम ही क्या है?

फिर भी न जाने क्यों हम माने बैठे हैं कि वे हम मनुष्यों के नियमों से अधिक सुन्दर ज्ञानयुक्त हैं।

तुमने तस्वीर भेज दी। अच्छा किया। मैंने जो कुछ कहा है, उससे यह न समझना कि मुझे प्रसन्नता नहीं हुई है। वह तो हुई ही है, पर साथ ही उसने एकाएक मेरे सूनेपन की भावना को तीव्र-सा कर दिया है। मैं धीरे-धीरे अपने को एक मानसिक चेतना हीनता की

दशा में ले आया था। पीड़ा कम तो न थी, पर मैं आदी-सा हो गया था कि तुम्हारी फोटो ने··· ।

तुमने शायद देखा हो तीर्थ-स्थानों पर कोई-कोई साधू कीलों पर पड़े रहते हैं। कहते हैं कि इस अभ्यास को प्रारम्भिक अवस्था में धीरे-धीरे उनकी खाल जहां-जहां कीलों की नोकें होती हैं सुन्न पड़ जाती है। दर्द नहीं महसूस होता है। पर जरा भी हिल जाने से····ओह !

तुम्हारी तस्वीर ने जरा हिला दिया मुझे भी।

यदि तुम कुछ और न समझो तो मैं अपनी तस्वीर न भेजूँगा। बात कुछ है नहीं, व्यर्थ ही जो पीड़ा मुझे हुई है, तुम्हें भी क्यों दूँ ? यह तो ठीक ही है कि इस पीड़ा में कुछ आनन्द आता है, इस दर्द में भी मज़ा है। पर दर्द बढ़ता तो है ही।

फिर फोटो वोटो में रखा ही क्या है ? बहुत दिन हुए हम दोनों ने एक सपना देखा था। वह सुन्दर था, उसमें नीला आकाश था, खिले फूल थे, चांदनी थी···उस सपने में अकेली थीं तुम, रानी और मैं···राजा नहीं, राजा बनने की कभी साध भी न थी। तुम्हारे सिंहासन पर कोई भी—और मैं भी—बैठे इसे मैं सहन न कर सकता था।

सपना टूट चुका है। तुम रानी हो, एक दूसरे देश की। तुम्हारे राजा भी हैं। और मैं, मैं उस टूटे सपने को सहेजे बैठा हूँ। निश्चल, ज़रा भी हिलता नहीं हूं, कहीं वे सुनहरे टुकड़े चूर-चूर न हो जायँ।

यही एक माया है, ममता है, और यही है जीवन।

पर, है तो मेरा ही। तुम्हें क्यों ऐसा बनने में सहायता दूँ। तुम्हारा जीवन जीवित है, जाग्रत है। होना चाहिए।

एक डर और भी है। मेरे यहाँ तो तुम्हारी तस्वीर देखने वाला—या वाली—कोई है नहीं। होने की सम्भावना भी नहीं है। पर, यदि तुम्हारे 'वे' मेरी फोटो देखें, तुम्हारे पास, तो न जाने क्या सोचें, समझें।

यह सोचने समझने की हद जहां तक जा सकती है, उसी से मैं डरता हूं। तुम्हें भी डरना चाहिए।

उन्हें नाराज़ होना ही चाहिए। राजा को यह सन्देह भी कि उसकी प्रजा—रानी—किसी दूसरे का ध्यान भी करती है, उसे बौखला देने को काफी है। तभी तो कहता है—काम, वचन, मन, पति-पद प्रेमा·····।

तुम्हें भी थोड़ा-सा पता चला होगा कि हम, पुरुष, सदा ही यह चाहते हैं कि स्त्री पर पहिली और अंतिम छाप उसी की हो। अपने से पहिले के उस पुरुष से, जिसके विषय में हमें सन्देह भी हो, ज़रा-सा भी हम बर्दाश्त नहीं करते हैं।

ऐसी हमारी प्रकृति है।

तब फिर ऐसा मौका ही क्यों दिया जाय? 'वे' न जाने क्या-क्या सोचें? वह तुम से भी सहन न होगा और तुम····मुश्किल में तो पड़ ही सकती हो।

या, फोटो भेज ही दूँ। न, न, तुम्हारी आज्ञा नहीं टल सकती है, मेरी···! ओह!

अपना वही—उस दिन का—तुम्हारा लिया स्नैप (चित्र) भेज रहा हूँ। उसी दिन का!

बस, और क्या? कुछ नहीं। कुछ भी तो नहीं कहना है मुझे। न।

तुम्हारा,
अब भी वही

———

"टूटा हुआ मोर"

बाबू जी, बाबू जी, देखो मोर !"—किलकारी भरता हुआ रमेश गोद में आ कूदा।

बरामदे में आराम-कुर्सी पर बैठ कर मैं एक मन से अखबार पढ़ रहा था। सुबह की चाय अभी खत्म ही की थी।

अखबार से आंख हटा कर, माथे में बल डाले देखा तो रमेश चीनी का एक मोर लिए गोदी में छिपने का प्रयत्न कर रहा था।

रमेश मेरा अकेला ही बच्चा था। सात साल की उम्र। बड़ा ही नटखट और चुलबुला।

"क्या है ?"—मैंने ज़रा चिढ़ाते हुए कहा—"आराम से अलग बैठो।"

लार्ड जैटलैण्ड का स्टेटमेण्ट जो पढ़ रहा था।

"यह !"—कहते हुए रमेश ने वह चीनी का मोर बिल्कुल नाक से अड़ा दिया।

पुराना, मैला और सस्ता-सा चीनी का मोर था।

"अच्छा !"—कह कर मैंने फिर अखबार में ध्यान लगाया।

सहसा किसी के सिसकने की आवाज़ सुनकर मैंने अखबार रख दिया और कारण ढूंढने लगा।

सामने ही एक छोटा-सा बच्चा खड़ा था। मैला, फटे हाल, आँखों में आँसू भरे।

"क्या है रे ?"—मैंने पूछा।

"बाबू जी·····मोर·····!"—उसने सिसकते हुए कहा। "हाँ तो ?"—रमेश चीख उठा—"तू कोठी में क्यों घुस आया ?"

रमेश, बेचारे का मोर छीन लाया था और अब सफाई पेश कर रहा था।

लड़का सहम गया। कितना सीधा-सा लगता था वह!

"रमेश!"—मैंने कहा—"उसका मोर दे दो।"

रमेश ने तुनक कर कहा—"ले!" और मोर उसकी ओर फेंक दिया।

गिरते ही उसके दो टुकड़े हो गए।

बेचारा बच्चा अपने खिलौने के लिए लपका और फिर उसके दो टुकड़े होते देखकर रो उठा।

मैंने एक बारगी रमेश का कान पकड़ कर कहा—लगाऊँ चपत?

किन्तु मेरा हाथ जहाँ का तहाँ रह गया।

एक हल्की, मीठी आवाज़ में कहा—रहने दीजिए बाबू जी, बच्चे ही तो हैं।

रमेश को छोड़ कर मैं मुड़ा। देखा—एक मैली और फटी धोती पहिने वह खड़ी थी।

उसका रूप देख कर मैं धक से रह गया। बिजली के बल्ब की तरह चमकदार, पर मिट्टी के दीप की भाँति स्निग्ध थी वह।

दरिद्र के पास इतनी रूप-राशि। मैं आँखें फाड़, देखता रह गया।

उसने लजाते हुए कहा—बाबू जी, मुन्ने अभी नासमझ ही तो हैं!

फिर अपने बच्चे से बोली—चलो, बेटा, लड़ते नहीं हैं।

वह उस लड़के की माँ है! तो उम्र भी होगी कोई २४, २५ वर्ष की। पर जान पड़ती थी कि अठारह से पार की होगी ही नहीं।

लड़के ने एक निगाह टूटे मोर पर डाली और चलने लगा।

तब मानो मुझे होश आया।

"सुनो!"—मैंनेतो कहा। फिर अन्दर से चाभीदार एक खिलौना लाकर बोला—"लो, बेटा!"

लड़के ने ललचाई आँखों से एक बार देखा, फिर देखा अपनी मां की ओर, और निगाह हटा ली।

"बाबू जी !"—वह बोली—"हम गरीबों का क्या होगा इस खिलौने से ? दो-चार पैसे बहुत हैं।"

उतावली से जेब में हाथ डालकर मैंने एक रुपया निकाला।

उसकी आंखें एक बार उस रुपये को देखकर चमकीं, फिर···

मैंने जबर्दस्ती वह रुपया और खिलौना दे ही दिया।

"और सुनो !"—मैंने कह भी डाला—"जब किसी चीज़ की जरूरत हो मांग ले जाया करो।"

उसकी भूरी-भूरी आँखों ने कृतज्ञतापूर्वक मुझे देखा और वह चली गई।

कुर्सी पर बैठा मैं उसी ओर देखता रह गया।

ऐसी गरीब···पर ऐसी सुन्दर ! · विधाता भी खूब है। अच्छा, उसका पति था या नहीं : वह भीख क्यों मांगती थी ? मान लो... ऊंह।

और भी न जाने क्या-क्या सोचता रहा। घड़ी में टन-टन कर दस बजे। लाचार मैं भी उठा कचहरी जाने के लिये।

सामने टूटा मोर पड़ा था। उठाया, सहेज कर रख लिया।

दिन बीतते रहे।

भिखारिन मिलती रही। कभी-कभी यों ही।

एक दिन वह फिर आई। उदास, परेशान।

"क्या बात है ?" मैंने पूछा।

आंखों में आंसू भरे, उसने बतलाया कि उसके पति को पुलिस दफा १०९ में पकड़ ले गई।

"तो तुम्हारे आदमी है ?—मैंने धीरे से पूछा।

न मालूम क्यों ? इस बात से कुछ खोने की निराशा-सी, अनुभव हुई।

"क्यों ?"

"ठीक तरह न बता सकूंगा, क्यों !"

"हां !"—उसने रोते-रोते कहा—"मेरे पति हैं। वे महीनों से बीमार थे। इसलिए मुझे जो कुछ मिल जाय उसी पर गुज़र कर रही थी। पर आज अभी, उन्हें पुलिस पकड़ ले गई है !"

कहते-कहते उसने पैर पकड़ लिए।

"बाबू जी, उन्हें बचा दीजिए।"

मैंने आश्वसन दिया, जो कुछ हो सकेगा, मैं करूंगा।

उसने एक सन्तोष की सांस ली। मानों उसकी सारी चिन्ता दूर हो गई हो।

मैंने उसके पति को छुड़ाने की पूरी कोशिश न की। न कर सका। दिल कहता था जाने भी दो उसे। उसके जाने के बाद तो यह बिल्कुल ही···फिर तो·····

मैं सिहर उठा। उसकी आंसू भरी आंखें याद आई·····पर कितनी सुन्दर है वह·····और उसका पति, मालिक···ओह !·····

किन्तु उसके खिलाफ कुछ सबूत ही न था। वह तो छूटेगा ही।

शाम की अंधियारी बढ़ रही थी। मैं बेचैनी से अहाते की दीवार के पास खड़ा था।

उसकी इन्तजार में ?

नहीं। ज़रा भी नहीं ! गर्मी थी·····

अंधेरा, पेड़ों की छाया···वह आती दीख पड़ी। मैं दीवार से सट कर खड़ा हो गया।

दिल धड़-धड़ कर रहा था।

वह पास आई···धीरे-धीरे।

"सुनती हो !"—मैंने धीरे से कहा।

वह चौंक पड़ी। अंधेरे में निगाह डाल कर देखा फिर बोली—बाबू जी ?

मेरा रक्त तेज़ी से दौड़ लगा रहा था। पास से कैसी सुन्दर थी वह, कितनी मोहक।

"यहां आओ कुछ कहना है।"

वह चुपचाप पिछले दरवाजे से आ गई।

मैं पेड़ की घनी छाया में खड़ा था।

पास, बिल्कुल पास, आ कर उसने कहा—उत्सुकता से—"वह छूट जायेंगे न?"

कुछ बुरा-सा लगा।

"हां,"—मैंने कहा—"कोशिश तो की है।"

उसकी आंखें हंसने लगीं।

"बाबू जी, मैं आपका गुण गाऊंगी।"

हम और भी पास-पास थे। बिल्कुल छूते से।

मेरा गला सूख रहा था कानों में धम-धम हो रही थी।

"और मेरी फ़ीस?"—मैंने हंसने की व्यर्थ चेष्टा करते हुए, फंसे गले से कहा।

"हम गरीबों के पास क्या है बाबूजी?"—उसने कहा।

पेड़ मानो नाच से उठे। मैंने कांपते हुए हाथ से उसे पकड़ने की चेष्टा करते हुए कहा—तुम और ग़रीब·····!

बिजली की तरह चमक कर वह अलग हो गई।

"गरीब पर इतनी कृपा, बाबू जी"—उसने कहा! और ····· और हाथ जोड़ कर, मेरे·····ही, मेरे पैरों को हाथ लगा कर····· चली गई।

मैं मानो मर-सा उठा।

वर्षों उसकी प्रतीक्षा किये बैठा रहा; पर फिर कभी उसे न देख पाया।

उस टूटे मोर को आज भी सहेज कर रखा है। क्यों? क्या बतलाऊं क्यों?

———

आत्म-हत्या

ज़हीर मेरा नौकर था। औसत कद का, दुबला-पतला आदमी, हँसमुख भी, पर कुछ अधिक सुन्दर नहीं। कहना चाहिये असुन्दर-सा। काम करने को सदा तत्पर। मैं उससे पूर्णरूप से सन्तुष्ट था।

आज जहीर नहीं है। कितने ही दिन हो गए हैं, उसे संसार से उठे। भरी जवानी में ही झुर-झुर कर उसने अपनी जान दी थी। मुझे जब-तब उसकी उन दिनों की वेदनामयी आँखें याद आ जाती हैं।

और यह सब हुआ था शादी के कुछ ही दिन बाद। अपनी शादी करने को वह कितना पागल था, कितना मगन होकर विवाह करने चला था। मेरी भी दावत कर डाली थी, अपनी पुरानी नौकरी के बल पर लड़-झगड़ कर।

शादी करके आया तो खुशी से उसके पांव ही जमीन पर नहीं पड़ते थे। आँखों में नशा-सा छाया रहता था ओठों पर; मुस्कान और कभी-कभी प्रेम-गीत की एक आध कड़ी खेलती रहती थी।

बीबी थी भी खूब सुन्दर।

दिन बीतने लगे। जहीर के काम में तत्परता, उसकी सदा-उपस्थित प्रसन्नता, इस संसार में अंधेरे का उजाला-सी थीं। मैं भी उसे देख-देख कर मन ही मन हँसता था।

एक बार—

जहीर नौकरी पर नहीं आया। न कोई बात, न छुट्टी के लिए कहा, न कुछ। बस, यों ही घर से अच्छा-खासा गया था कि दूसरे दिन सुबह आया ही नहीं।

मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ। होना ही था। जहीर ने कभी ऐसी

कामचोरी नहीं की थी। शायद बीमार हो, यह सोचकर इधर-उधर पूछ-ताछ की, तो पता लगा, कुछ झगड़ा-सा हो गया था घर पर।

दूसरे दिन जहीर काम पर आ गया, पर एकदम पीला, मुर्दा-सा।

"क्या हुआ, जहीर ?" मैंने पूछा।

"कुछ नहीं, साहब !" कहकर वह काम में लग गया।

पर उसके हाथ-पैर शिथिल से थे। मानो मन पर कोई भारी बोझ हो, जो उसकी सारी स्फूर्ति को दबाए दे रहा हो।

और जहीर की यह शिथिलता समय के साथ-साथ बढ़ती गई।

आखिर एक दिन मैंने उस पर पूरे जोर से प्रश्न किए—'लाचार था? दुखी था ? क्या बात थी ?

मुझे याद है, वह नीचा सिर किये खड़ा था। जितना ही मैं पूछता जाता था, उसका सिर उतना ही नीचा होता जाता था।

"जी," उसने अन्त में धीरे-धीरे कहा—"आप पूछिएगा ही ?

"हाँ !"

वह फिर हिचकिचाया। एकाएक उसने कह ही दिया—"अपनी शर्म की बात कैसे कहूं, साहब !"

यह कह कर उसने निगाह उठाई और मानों चौंक पड़ा। मैंने मुड़ कर देखा, सामने दीवार पर आइने में उसकी सूरत दिखाई पड़ रही थी।

"ठीक तो है," उसने दीनता से कहा—"इस बुरी सूरत को कौन चाह सकता है !"

इतना कहते-कहते वह मुड़ कर बाहर चला गया—शायद आंसू छिपाने।

मेरे मन में आकाश-पाताल चक्कर लगाने लगे। जहीर का बैठे-बैठे एकटक न जाने क्या देखते रहना, कभी शीशे में मुंह देखना—फिर उसकी यह बातें'''मैंने पास-पड़ोस के नौकरों से पूछना शुरू किया।

मालूम हुआ, एक दिन जहीर के घर पर, किसी पड़ोसी ने शराब

पीकर, कूद कर, उसकी स्त्री से प्रेम-भिक्षा मांगनी चाही थी; पर बुरी तरह दुतकारा गया था।

सहज स्वभाव स्त्री ने यह बात ज़हीर को सुना दी, पर ज़हीर के मन में न जाने कैसा एक काँटा बैठ गया। पड़ोसी बड़ा सुन्दर था; कुछ धनवान् भी। ज़हीर के मन में जम गया कि उसकी पत्नी···

थी न बेवकूफी उसकी।

बस, एक दिन मैंने उसे रोक कर उसे यही बता दिया। सुनते ही ज़हीर कुछ देर तक भौंचक्का-सा मुझे देखता रहा, फिर रुंधे गले से बोला—"ओफ! आप तक भी यह बात पहुँच गई!"

बस, यह मेरी और ज़हीर की अन्तिम भेंट थी।

थोड़े ही दिन बाद सुना, वह मर गया।

मुझे दुःख हुआ। उसके लिये भी, उसकी पत्नी के लिये भी। बेचारी क्या करेगी?

मैं खुद उसके पास से गया। देखा, दुःख से बेहाल, एक सुन्दर युवती को, जिसकी आंखें रोते-रोते सूज गई थीं।

"देखो," मैंने सान्त्वना से कहा—"जब तक तुम्हें जरूरत हो, ज़हीर की तनख्वाह हर महीने मंगा लिया करना।"

कृतज्ञता से उसने सिर झुका लिया—"आप मालिक हैं!" उसने कहा और फूट-फूट कर रो पड़ी।

उसके बाद वह हर महीने रुपये लेने आती और लेकर चली जाती।

पर दूसरे ही महीने—

वह बदली-सी थी। कपड़े भी साफ थे, तेल, कंघी और हां, इत्र भी था।

तीसरे महीने तो—

उसकी आंखों में हंसी, चंचलता और न जाने क्या-क्या था!

मेरा मन न जाने कैसा होने लगा। सुन्दर थी ही और अब तो

सुन्दरता में एक मादकता भी थी।

"साहब, आप बड़े अच्छे हैं।" उसने कहा।

"नहीं, नहीं!" मैं जल्दी से बोला।

"काश! मैं भी आपकी खिदमत कर सकती, आप के कुछ काम आ सकती!" उसने मेरी आंखों को रोक कर कहा। उसकी आंखें कह रही थीं—कुछ।

मैंने परेशानी से—कुछ-कुछ मोह-सा हो रहा था न—कहा, "नहीं, नहीं, अब तुम जाओ। देर हो रही है।"

वह उठ खड़ी हुई और बाहर जाने के बजाय मेरे पास आकर खड़ी हो गई। मैं भी उठ खड़ा हुआ।

उसके ओठ खुले थे—मुस्कराते हुए।

मैं उसके सीने को धीरे-धीरे हिलता देख रहा था···कानों में सांय सांय हो रही थी···दूसरे ही क्षण—

ग्लानि से मैं पानी-पानी हो रहा था। उफ़्! ज़हीर की बीवी।

पर, यह सब तुम क्यों करती हो!" मैंने पूछा। वह जाते-जाते रुक गई।

"जी, उन्होंने मुझ पर सन्देह करके अपनी जान दी और मुझे एक के बजाय दसों की मरज़ी पर छोड़ गए। मैं भी या तो मर सकती थी, या चुपचाप लोगों का खिलौना बनती। इससे अच्छा, मैंने सोचा, क्यों न—जब एक काम करना ही है—उसका सौदा किया जाए।"

वह चली गई।

मैं सोच रहा था—ज़हीर के आत्मघात का क्या परिणाम हुआ!?

सुलताना ने कहा था !

हाँ उसी ने कहा था।

वही तो पीली-सी, दुबली-पतली, सदा की बीमार-सी सुल्ताना। पर जोश की पुतली। अन्याय की शत्रु और क्रांति की उपासिका।

उसकी बड़ी-बड़ी आंखों में हिटलर और मुसोलिनी के नाम से चमक आ जाती थी और पीले मुख पर लाली।

यदि उसके पास ताकत होती तो हिटलर, मुसोलिनी और दुनियां के पूंजीपति कटहरे में बन्द होते।

ऐसी थी वह और कालिज की बड़ी डिबेटों में इनाम लिये हुए, सभा सोसाइटियों की संचालक—मतलब यह है कि सिर्फ जोश और आग की बगूला थी।

और मैं ?

बेकार-सा, दुनियां के भीषण संघर्ष से भागने वाला मनुष्य अपनी सपनों की दुनियां में बसने वाला—बेकार, ग्रेजुएट। जीवन-यात्रा की रेल में पीला तीसरे दर्जे का टिकट लेने वाला पथिक।

हां, तो जब सुल्ताना ने सुना कि मैं डिप्टी कलेक्टर होने जा रहा हूँ तो उसने कहा था, झल्ला कर शायद है निराश होकर, खीज कर—'आप डिप्टी होकर, कौम के ग़द्दार और मुल्क के दुश्मन होंगे।'

'पर·····'मैंने कुछ टोकना चाहा। 'पर क्या' उसने तेज़ी से कहा था, 'जो आदमी चांदी के टुकड़ों के लिए गुलामी मंजूर करता है उससे उम्मीद ही क्या हो सकती है ?

मैं चुप। कहता भी क्या ? गर्म जोश के लावा के सामने कहना ही क्या था ?

बात न भूल सका। तब भी नहीं, आज तक भी नहीं।

देश ! भीषण प्रकृति के ताण्डव का परिणाम-स्वरूप एक भूखण्ड !

देशवासी ! कौन है वह ? सब ही ने तो कभी न कभी इस देश में बाहर से आकर पदार्पण किया है। यहां के रहने वालों की कब्र पर अपने महल बनाए हैं।

फिर ओह, यह-सब कुछ नहीं। बचपन का जोश है केवल। मगर·····चांदी के टुकड़े·····गुलामी····· !

ओह ! आज आज़ाद है ही कौन ? और चांदी के टुकड़े, रुपये, किसे नहीं चाहिये ?

बेकार-सी बात ! सुलताना कालिज की पढ़ने वाली, जीवन-संग्राम को क्या जाने ?

मैं डिप्टी हो गया।

कई साल बीत गए।

सुलताना हां, वह कालिज खत्म करके राजनीति में आ गई थी।

राजनीति भी मामूली-सी नहीं। यह नहीं कि किसी कान्फ्रेन्स में कोई स्पीच वगैरह····· । न, न। वह तो एक दम गर्मदल राजनीतिज्ञ थी।

किसान, मजदूर आन्दोलन की एक मात्र प्राण थी वह ! कभी-कभी अख़बार में फ़ोटो या और कोई समाचार उसका देखने को मिल जाता था। बस।

कहना न होगा कि डिप्टी होने के बाद हम दोनों बहुत दूर-दूर हो गए थे। कुछ उसकी कोशिश से कुछ मेरी उदासीनता से।

लेकिन उसकी वह बात आज भी याद थी। अच्छी तरह।

एक दिन—

हमारे यहां की चीनी की फैक्ट्रियों के मालिक मिलने आए।

बात वही पुरानी, मज़दूर, आन्दोलन, हड़ताल का डर और सरकार से सहायता की आशा।

मेरा तब ही तबादला होकर आया था।

हम ? हम तो मिल मालिकों की मदद करते हैं। सरकार की पालिसी ही ऐसी थी।

हां, मज़दूरों की भी उचित माँगों को मनवाने की कोशिश'''।

बात बढ़ती ही जा रही थी।

मज़दूरों में बड़ा जोश था। ऐसा सुनने में आता था।

सहसा एक दिन कलेक्टर साहब का फ़ोन आया—चीनी की मिलों में हड़ताल हो गई थी।

हम सब मुस्तैद हो गए अपने काम पर।

फिर ? फिर क्या वही दंगा, पुलिस''''''गोलियां''''''मुकदमों की भरमार।

मज़दूर दब गए थे। दबना पड़ा था। और अब बड़े ज़ोरों से मुकदमों की तैयारी थी।

मैं भी सब समझता था। मिलों की मशीनों को नुकसान पहुँचाया गया था, मालिकों पर ईंटें, पुलिस पर, खिड़कियों पर'''हड़तालियों ने बड़ा उपद्रव किया था।

मोटरों के शीशे टूट गए थे। इमारत की खिड़कियां चूर-चूर हो गई थीं। दो पुलिस वालों के चोटें आई थीं। ओफ़।

और उस पर भी कांग्रेस वालों का यह कहना था कि ज़ुल्म मालिकों का हो था।

अब इन्हें कौन समझता था कि कानून तो मानना ही चाहिये अगर कोई शिकायत थी ही मज़दूरों को तो उनके लिए और रास्ते भी तो थे। यह क्या कि तमाम कानून अपने ही हाथ में ले लें।

तभी तो—अब मालूम पड़ेगी। जब चक्की पीसेंगे।

तय हुआ कि मज़दूरों और उनके नेताओं के मुकदमे जेल में ही होंगे।

तब उस दिन,—हां उस ही दिन तो। मुझे अब तक याद है, सब कुछ।

सुबह चाय पीते-पीते जो उन लोगों की फ़ेहरिस्त देखी जिनके मुकदमे मुझे करने थे तो—ओह !—उनमें एक नाम था—सुल्ताना का भी; और मैं धक से रह गया। चाय का प्याला रख दिया। बड़ी मुश्किल थी।

मैं सुल्ताना का मुकदमा करूंगा। ओह ! शायद सज़ा भी। न, न कभी न कर सकूंगा। कभी भी नहीं।

मगर उसे भी क्या सूझी थी। मज़दूरों को इतना बेहाथ क्यों होने दिया ? पुलिसमैनों के भी तो चोट लगी थी।

सरकार का फैसला था कि सजायें तो देनी चाहियें। यह पालिसी की बात थी।

मुझे सुल्ताना पर बड़ी झुंझलाहट आई। यह सब झगड़ा करना ही था तो इस इलाके में जहां मैं·····

अब ?

क्या मुकदमा तबदील करा दूँ ? मगर कलेक्टर साहिब तो नाराज़·····

न, न। मैं ही करूँगा। सुल्ताना के मामले में तो इन्साफ़ ही करूँगा। बिल्कुल सोलह आने···

उसी ने कहा था न—चांदी के टुकड़ों के लिये गुलामी···।'

ओह ! मैं ही उसका मुकदमा करूँगा।

सुल्ताना सामने आई।

और भी दुबली, सूखे बाल, आंखें और भी स्थिर।

मुझे देखकर—कुछ नहीं। पलक तक न झपकी।

मेरा ही सर झुक गया।

मैंने बैठ जाने को कहा।

उसके बाद लम्बा-चौड़ा प्रोसीक्यूटर का बयान। उसने बतलाया 'सुल्ताना' साम्यवादी थी। हड़ताल की तह में आर्थिक मांग नहीं राजनैतिक उसूल थे···रूस···मज़दूरवाद···क्रांति···और भी न

जाने क्या-क्या ?'

मैं दंग रह गया। सुल्ताना को लम्बी सज़ा कराने का पूरा इन्तज़ाम था।

अब ?

इसी उधेड़-बुन में था कि एक चपरासी ने एक लिफाफा लाकर दिया। कलेक्टर साहब का था।

पढ़कर माथे पर पसीना आ गया। लिखा था—सुल्ताना निहायत खतरनाक थी समाज के लिये इसलिये सज़ा···शायद मैं भूल जाऊं इसलिये यह पत्र था।

बड़ी मुश्किल थी।

सुल्ताना की ओर देखा। मुख पर झलक थी मुस्कराहट की—फिर वही पीला, दुखमय मुख !

सफ़ाई का वक़ील।

'मेरा कोई वकील नहीं', सुल्ताना ने कहा—"मैं इस अदालत के आगे पैरवी करना बेकार समझती हूं।'

यह चोट की थी या विश्वास दिखाया था—मैं सोचने लगा।

अब फैसला !

क्या करूँ यही तो समस्या थी। सुल्ताना को सज़ा ·· ! दिल कांप उठता था।

छोड़ूँ···! क्योंकर ? एक गैरकानूनी दंगे के लीडर को··· !

अन्त में हिम्मत करके फंसे गले से मैंने कहा—'आपको दो साल के लिये दो ज़मानतों पर छोड़ा जाता है···वरना··· ।'

बीच ही में सुल्ताना ने कहा—'मैं ज़मानत न दूँगी।'

मैंने धीरे से कहा—वही जो कहना चाहिये था—तब दो साल की सादा कैद···ए क्लास··· ।'

मैं कैसे घर आया, यह न बताऊंगा और न बता सकूंगा।

चलती बार उसने मेरी ओर देखा था, मुस्कराते हुये।

क्या उसने ठीक ही कहा था—'चांदी के टुकड़ों पर···गुलामी···'?

क्या वास्तव में मैंने बुरा किया, ग़लत किया, कानून के खिलाफ किया?

रेखा का पाप

रेखा चली गई।

कहां और क्यों? सो न बता सका है हर कोई क्यों और कहां चला जाता है।

रेखा चली गई। दुनिया की समझ में वह सुन्दर शरीर पाप की खान थी। उसका न रहना ही अच्छा था।

रेखा ने पाप किया? सचमुच? आज उसी पाप की कथा कहने बैठा हूँ। आप क्या कहेंगे वही देखना है।

रेखा को मैं कब से जानता था, यह बतलाना कठिन है। पहिली ही बार दूर बचपन में उसे देखकर मानो कोई पुरानी याद हरी हो गई थी।

उसे कब से जानता था, मैं कैसे बता सकूंगा।

बहुत दिन की बात है एक दिन शाम को छत की मुंडेर से पड़ोस के खाली घर में झांक कर देखा था। ज़रा सी एक लड़की खड़ी अनमने भाव से सामने की ओर देख रही थी। हमारे नये पड़ौसी उसी दिन आए थे।

आह! वह दिन!

आहट सुनकर उसने देखा। आज भी याद है कि उसकी बड़ी-बड़ी आंखें देखकर मैं दंग रह गया था।

रंग साफ़ था, पर मैं तो उसका दुबलापन देखकर रह गया था। फूंक मारने से ही उड़ सकती थी।

न जाने क्यों वह अच्छी लगी, मैं हंस दिया। वह भी।

यदि पा सकता कि उस मुख पर विधाता का विधान तो···

और यदि वही—रेखा ही—समझ सकती तो···

हम दोनों दोस्त हो गये, बड़े गहरे, चौबीसों घण्टों के।

रेखा बिना तब भी छोटी उम्र में भी, रहना न रहना सा ही जान पड़ता था।

वे सुखमय दिन कटते चले गये, एक के बाद एक जल्दी से।

हाँ, रेखा के पिता या घरबार का और न अपना ही परिचय दे सकूँगा, हम दोनों को दुनिया ने काट कर फेंक दिया है, बेकार चीज का परिचय ही क्या ?

हम दोनों अब बड़े थे, एक दिन की बात है मैं रेखा के कमरे में गया, उसके घर।

सूरज डूब रहा था, मैं क्यों गया, यों ही। उसके आने में देर हो गई थी।

दरवाज़े पर ठिठक कर देखा रेखा अपने लम्बे-लम्बे बाल काट रही थी।

शीशे में मुझे देखकर उसने चौंक कर मेरी ओर देखा और सकपका गई, गोरा रंग लाल हो गया।

मैं गुमसुम।

दिल धड़-धड़····· क्यों ? न मालूम रेखा कितनी सुन्दर थी ! कितनी···ओह ! मैं मुड़ने लगा।

'क्यों, क्या हुआ ?'

मैं रुका, मुड़कर उसकी ओर देखा और जल्दी से चला गया।

मैं अनमना-सा रहने लगा, हृदय में भांति-भांति के विचार यहां वहां के, मानो एक आन्दोलन उठ खड़ा हुआ हो।

रेखा के और मेरे बीच मानो एक परदा-सा पड़ गया हो।

एक दिन सुना रेखा का विवाह होने जा रहा था।

आन्दोलन और भी तीव्र हो उठा। आखिर यह सब क्यों ?

मैं कर ही क्या सकता था, रेखा परदे में थी, मिलना भी मुश्किल।

आखिर एक दिन मां से कुछ कहने की हिम्मत की—वही रेखा

के बारे में।

ओह ! एक कड़ा लैक्चर, आजकल के लड़कों की बेहयाई पर, जात-पात के ऊपर और घोर कलियुग पर।

घर से मानो बाहर-सा कर दिया गया, अब क्या करता ? अगले दिन रेखा का विवाह था।

ऊपर छत पर रात के सन्नाटे में बैठा सोच रहा था दुनिया भर की वही खुराफात। वे सिर पैर के मन्सूबे।

सामने चौंक कर, छत पार करके चोर की भांति रेखा। पास आने पर ओह ! यही थी वह रेखा, पीली वाली-सी। यही थी वह सुन्दर रेखा।

यह क्या हुआ, रेखा ! मैंने उसे पास बिठाकर पूछा।

वह हँसी, 'हुआ था क्या वही अपने विवाह के बारे में कह देने का फल।'

और भी कड़ा नियन्त्रण। फिर तो मैंने कहा, रेखा तुम क्यों आई ? कोई देख ले तो ?

'मैं आई हूं' उसने सीधे से कहा, 'क्योंकि मैं तुम से मिले बिना नहीं जा सकती थी।'

मैं चुप रह गया।

'नहीं समझे, जीवन में एक बार प्रेम करने के लिए।'

मैं आगे न सुन सका, धम-धम रक्त दौड़ने लगा, सामने तारे से··· सामने रेखा का चेहरा···मैंने·····

सुबह चार बजे रेखा छाया की भांति चली गई, मैं ज़मीन पर पड़ा रहा।

रेखा के पति को देखा, शान्त, नम्र लड़का-सा। रेखा का विवाह हो गया, दिन फिर बीतते गए, घर वाले मुझ से निराश होते गए मैं उनसे···

एक दिन रेखा का पत्र।

अपने यहाँ दावत में बुलाया।

हिम्मत करके, बड़ी मुश्किल से, केवल रेखा को देख सकने का प्रलोभन न रोक सकने के कारण गया।

दावत भर देखा, रेखा को, आश्चर्य में। वह पीला मुँह, पर उस पर एक प्रकार की उत्तेजित लाली।

उसके पति ने बतलाया—'रेखा अस्वस्थ रहती थी।'

मैं चुप।

और तब, जब कुछ ठीक से चल रहा था, विधाता ने·····

नौकर ने आकर रेखा के पति को एक पत्र दिया।

'आप बैठिये, मैं अभी आया,' कहकर वे चलते बने।

अब?

मैं और रेखा—दोनों चुप।

सहसा रेखा ने कहा।

'याद है वह प्रेम रात्रि'·····

मैं फिर भी चुप। कहता भी तो क्या?

रेखा कहती गई, 'उसी की बदौलत आज तक ज़िन्दा हूं। पर अब·····'

मैंने रुंधे गले से कहा—'पर यह तो रेखा····· पाप·····सब से कम यहाँ·····असम्भव·····।'

रेखा ने उठकर मेरे गले में हाथ डालकर कहा।

'यह तो पाप है और शायद मेरा विवाह पुण्य, क्यों न?

मैंने उसकी ओर देखा। चमकती आँखें और·····

हृदय में वही धड़-धड़····· आँखों के आगे घूमता-सा रेखा का मुंह·····मैंने हाथ उसके गले में डाल दिया।

फिर?

फिर क्या ? पतिदेव जल्दी ही लौट आये ।

रेखा चली गई, अपने-आप ही ।

मैं संसार से परित्यक्त शाप के समान, उससे दूर रहता हूँ—प्रेम-बन्धन से बहुत दूर ।

क्या सचमुच रेखा ने और मैंने पाप किया ?

Durga Sah Municipal Library,
Naini Tal,
दुर्गासाह म्युनिसिपल लाइब्रेरी
नैनीताल